समणसुत्तं

(श्रमणसूत्रम्)

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।

सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन

राजघाट, वाराणसी

SAMANASUTTAM

Price

Paper Back Rs 10 00

Bound Rs 12 00

समणसुत्त

●

अनुवाद

प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री

मुनि श्री नथमलजी

●

संस्कृत-छाया-परिशोधन

पं० बेचरदासजी दोशी

●

प्रकाशक

सर्व-सेवा-संघ प्रकाशन

राजघाट, वाराणसी १

संस्करण प्रथम ५०००

प्रकाशन तिथि महावीर जयन्ती

चैत्र शुक्ल १३, वीर नि० २५०१

२४ अप्रल १९७५

●

मुद्रक ज्ञानमण्डल लि० वाराणसी

●

मूल्य

साधारण रु० १० ००

सजिल्द रु० १२ ००

प्र का श की य

'समणसुत्तं' ग्रन्थ का प्रकाशन करते हुए सर्व-सेवा-संघ गौरव एवं प्रसन्नता का अनुभव कर रहा है।

धर्म के अनन्त रूप हैं। शब्दों में इन रूपों को बाँधा नहीं जा सकता। महापुरुषों तथा विचारक मनीषियों ने देश, काल, परिस्थिति के अनुसार अनन्त का अनन्तवाँ अंश ही प्रकट किया है। महापुरुषों का दर्शन संकुचित नहीं होता, परन्तु अर्थग्रहण की सीमाओं में अंशाभिनिवेश की नींव पड़ती है और इसीमें से विविध मतवादों का उद्‌भव हो जाता है। निष्पक्षभाव से विश्व के सब धर्मों का गहराई से अध्ययन किया जाय तो ज्ञात हो सकता है कि महापुरुषों की वाणी का अमुक-अमुक अंश उस-उस देश, काल, परिस्थिति के स्तर भेद तथा भूमिका भेद का सूचक है। जैसे—

१ सामान्य व्यक्ति की सर्वप्रथम भूमिका चार्वाक भौतिक दर्शन की ही रहती है। क्योंकि सुख की आकांक्षा सब मनुष्यों में समान है।

२ व्यापक सुख की आकांक्षा भौतिक स्तर पर पूरी होना संभव नहीं है, इसका दर्शन जिन्हें हुआ, उन्होंने विश्व की व्यवस्था का स्वरूप जान लेने का प्रयास किया। विश्व-समस्या के मूल में कुछ विशिष्ट मूल द्रव्य हैं। इन मूल द्रव्यों और उनके पारस्परिक संबंधों की जानकारी पर ही व्यापक सुख निर्भर है। यही न्याय और वैशेषिक दर्शन की बुनियाद है।

३ इससे भी सुख और समाधान अपूर्ण ही रहता है, ऐसा जिनका अनुभव हुआ वे और भी गहरे उतरे। सांख्य, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा यानि वेदान्त इसी अनुसंधान की निष्पत्ति हैं। जैन तथा बौद्ध दर्शन भी इसी परम्परा में आते हैं। इन सारे दर्शनों का सार यह है कि विश्व की विविधता तथा भिन्नता का आधार एक ही विभु सत्ता है।

४ इस विभु-सत्ता के प्रत्यक्ष दर्शन तथा उसे जीवन में प्रकाशित देखने के शोध में लगनेवाले लोगों ने योग-दर्शन को साकार किया। उसमें से निष्कर्ष यह निकला कि योगानुशासन के बिना मानव और विश्व के अस्तित्वगत संबंध का न भान होगा और न जीवन व्यवहार ही फलित होगा। इसलिए बौद्धदर्शन में कहा गया है कि जीवन का यथार्थ दर्शन प्रज्ञा और उपाय के सामरस्य (हार्मनी) पर ही निर्भर है। चाहे जैन हो या बौद्ध, सांख्य हो या वेदान्त, इन सब दार्शनिक निष्ठाओं में योगानुशासन को ही प्रायमिक महत्त्व दिया जाता है। यही भारत की संस्कृति में आत्मदर्शन तथा विश्वदर्शन का अनुभव सिद्ध मार्ग कहा गया है।

इस मार्ग पर अग्रसर मानव की दृष्टि समता रस में इतनी सहज, सूक्ष्म और तरल (फ्लेक्सिबल) हो जाती है कि सारे संघर्ष सामरस्य, आनन्द और सौंदर्य में लीन हो जाते हैं और जीवन को विकृत करनेवाले सारे मतवाद और संघर्ष अर्थशून्य हो जाते हैं। जैन-धर्म का अनेकान्तवाद या स्याद्वाद इसीका निदर्शन है जो न केवल परमत-सहिष्णुता ही जगाता है, परस्पर विरोधी विचारों में समन्वय भी स्थापित करता है।

'समणसुत्तं' ग्रन्थ की निष्पत्ति के पीछे भगवान् महावीर की अव्यक्त और सन्त विनोबा जी की पावन व्यक्त प्रेरणा रही है। यह अपने में अपूर्व ऐतिहासिक घटना है कि भगवान महावीर के २५ सौवें निर्वाण-महोत्सव के वर्ष में दिल्ली में इस ग्रन्थ की सर्वमान्यता के लिए संगीति का आयोजन हो सका। संगीति में सम्मिलित साधुओं, विद्वानों, श्रावकों तथा सेवकों ने हर प्रकार से अपना हार्दिक सहयोग देकर इस सर्व-मान्यता प्रदान की। जैनधर्म के सभी सम्प्रदायों के मुनियों तथा श्रावकों का यह सम्मिलन विगत दो हजार वर्षों के पश्चात पहली बार देखने में आया।

दिल्ली की इस ऐतिहासिक एवं समन्वयात्मक संगीति का अधिवेशन दो दिन तक चार बैठकों में सम्पन्न हुआ। चारों बैठकों की अध्यक्षता चारों आम्नायों के मुनि श्री सुशीलकुमारजी, मुनि श्री नथमलजी मुनि श्री जनकविजयजी तथा उपाध्याय मुनि श्री विद्यानन्दजी ने की। चारों बैठकों को आचार्य श्री तुलसीजी, आचार्य श्री धर्मसागरजी, आचार्य विजयसमुद्रसूरिजी एवं आचार्य देशभूषणजी के आशीर्वाद प्राप्त हुए। ग्रंथ का अंतिम प्रारूप संगीति के चारों अध्यक्ष और जिनेन्द्र वर्णीजी ने तैयार किया जिसमें शुरू से अंत तक आचार्य तुलसीजी का सहयोग रहा।

इस ग्रंथ का प्रारम्भिक संकलन ब्र० जिनेन्द्र वर्णीजी ने किया है। सर्वप्रथम एक संकलन 'जैनधर्मसार' नाम से प्रकाशित किया गया। बाद में अनेक सुझावों और संशोधनों को ध्यान में रखकर दूसरा संकलन पं० दलसुखभाई मालवणिया ने किया। सन्त कानजी स्वामी की प्रेरणा से डा० हुकुमचन्दजी भारिल्ल ने संकलन के लिए काफी उपयुक्त गाथाएं सुझायीं। उदयपुर के डा० कमलचन्दजी सोगानी ने गहराई से अध्ययन करके अनेक सुझाव दिये। सबका अवलोकन करके श्री वर्णीजी ने तीसरा संकलन तैयार किया जो 'जिणधम्म' नाम से संगीति में विचारार्थ रखा गया। अब जो संकलन प्रकाशित हो रहा है वह अंतिम एवं सर्वमान्य है। इस संकलन को परिपूर्ण तथा परिमार्जित बनाने में पं० दलसुखभाई मालवणिया तथा मुनिश्री नथमलजी का विशेष हाथ रहा है। डा० ए० एन० उपाध्ये डा० दरबारीलालजी कोठिया आदि विद्वानों का भी सहयोग मिला है। गाथाओं की शुद्धि में पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, पं० बेचरदासजी दोशी और मुनि नथमलजी के श्रम को भुलाया नहीं जा सकता। संस्कृत छाया का संशोधन और परिमार्जन पं० बेचरदासजी ने एक-एक शब्द को जाँच-परखकर किया है। हिन्दी अनुवाद पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री तथा मुनि श्री नथमलजी ने किया है। अनुवाद सरल मूलानुगामी है।

विषय की पूर्वापर कड़ी को जोड़े रखने के लिए अनुवाद मे कही कही कोष्ठको म विशिष्ट शब्द दिये गये ह। इन सब विद्वानो के सहयोग के प्रति हम हृदय से आभारी हैं।

सगीति का द्वि दिवसीय अधिवेशन अणुव्रत विहार तथा जैन बालाश्रम म आयोजित था। अणुव्रत आन्दोलन के प्रवतक आचाय श्री तुलसीजी तथा उपाध्याय मुनि श्री विद्यानन्दजी की ओर स प्रारम्भ से ही इस काय म प्रोत्साहन मिलता रहा ह। इनके साथ-साथ दोनो सस्थाओ के व्यवस्थापको तथा कायकर्ताओ न भी जो आत्मीय सहयोग दिया उसके लिए सव सेवा-सघ आभारी ह।

श्रावक शिरोमणि साहू शान्तिप्रसादजी जैन तथा उनकी धमपत्नी श्रीमती रमारानी जन तथा श्री प्रभुदयाल जी डाबडीवाला के भी हम विशेष कृतज्ञ हैं जिन्होने सगीति को सफल बनाने म हार्दिक सहयोग दिया।

उपाध्याय कविरत्न अमरमुनिजी मुनि श्री सतबालजी, कानजी स्वामी, आचाय श्री आनन्दऋषिजी, मुनि श्री यशोविजय जी आदि सन्तो ने भी इस मगल प्रयास का पूरा समथन किया, अनेक सुझाव दिये और प्रेरणा दी जिससे हमे बल मिला है।

ग्रन्थ के प्रचार मे पहल करनेवालो म भारत जैन महामण्डल बम्बई के महामंत्री श्री रिषभदासजी रांका तथा हैदराबाद के प्रसिद्ध सर्वोदयी मित्र श्री बिरधीचन्दजी चौधरी का विशेष सहयोग मिला ह। दोनो सज्जनो न अग्रिम राशि भेजकर ग्रथ के प्रकाशन को सुलभ बना दिया है।

भाई श्री राधाकृष्णजी बजाज ने तो प्रारम्भ स ही इस काय को अपना माना ह। श्री जमनालालजी जन का तो प्रारभ से ही सभी कार्यों मे बराबर सहयोग मिलता रहा है। श्री मानव मुनिजी का भी सहयोग मिला है। ये सब सव-सेवा-सघ के अभिन्न अग हैं। अपनो के प्रति आभार कैसे माना जाय।

क्षु० जिनेन्द्र वर्णीजी का उल्लेख किये बिना रहा नहीं जाता। बाबा की प्रेरणा उन्हे स्पश कर गयी और वे पल-पल इस काय म जुट गये। कृश और अस्वस्थ काया म भी सजग एव सशक्त आत्मा के प्रकाश म आपन यह दायित्व हँसते-हँसते निभाया। वे नहीं चाहते कि कहीं उनका नाम टकित किया जाय, लेकिन जिसकी सुगंधि भीतर स फूट रही है, फैल रही है उस कौन रोक सकता ह। हम कौन होते हैं, उनका आभार व्यक्त करने वाले! सब प्रभु की कृपा ह।

वाराणसी के पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान तथा स्याद्वाद जैन महाविद्यालय ने सैकडो ग्रथो की सुविधा प्रदान की ह। ज्ञानमण्डल यत्रालय न हमारी प्राथना पर ध्यान देकर ग्रथ का मुद्रण शीघ्रातिशीघ्र कर देने का प्रयास किया है।

प्रसन्नता की बात है कि यज्ञ प्रकाशन समिति बडौदा की ओर स ग्रथ का गुजराती सस्करण शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है। महावीर निर्वाण महोत्सव की राष्ट्रीय समिति

न अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित कराना तय किया है। अन्य भाषाओं में भी इसके अनुवाद प्रकाशित करके यह ग्रंथ घर घर पहुँचाने का प्रयास होना चाहिए। ग्रंथ का प्रकाशनाधिकार तो जैन धर्मानुयायी समस्त सम्प्रदायों का सम्मिलितरूपेण है। किसी भी भाषा में प्रकाशन के लिए सर्व-सेवा-संघ इन सम्प्रदायों की अनुकूलता पर अपनी अनुमति दे सकेगा।

सबसे बड़ी बात तो यह है कि इस संपूर्ण कार्य के पीछे प्रभु प्रवाह, काल प्रवाह और समाज प्रवाह की अनुकूलता मिली, जिससे समणसुत्तं ग्रंथ की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हुई। भगवान् महावीर की २५ सौवीं निर्वाण-संवत्सरी के उपलक्ष्य में यह सर्वमान्य ग्रन्थ सबके पास पहुँचे यही मंगल भावना है।

अन्त में सुधी पाठकों तथा विद्वानों से अनुरोध है कि ग्रंथ में जहाँ भी भूल या अशुद्धि आदि दिखाई दे, उसकी सूचना शीघ्र देने की कृपा करें ताकि आगामी संस्करण में उसका परिमार्जन किया जा सके।

महावीर-जयन्ती
चैत्र शुद्ध १३ वीर नि० सं० २५०१
२४ अप्रैल १९७५

कृष्णराज मेहता
संचालक
सर्व-सेवा-संघ प्रकाशन

संगीति मे प्रमुख पंडित, विद्वान् तथा श्रावकगण

बायें से पहली पंक्ति सर्वश्री पं० भुजबली शास्त्री, मानव मुनि। दूसरी पंक्ति–ए० एन० उपाध्ये, जमनालाल जैन, यशपाल जैन, शांतिलाल व० सेठ, राधाकृष्ण बजाज, पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, मूलचन्द्र गोराबाला, कृष्णराज मेहता। तीसरी पंक्ति–पं० सुमेरचन्द्र दिवाकर, डा० दरबारीलाल कोठिया अगरचन्द नाहटा तथा अन्य विद्वान् श्रावक आदि।

सभी आम्नायों के प्रमुख जैन आचार्य तथा मुनिगण

बायें से—ब्र० श्री जिनेन्द्र वर्णीजी, आचार्य श्री धर्मसागरजी उपाध्याय मुनि श्री विद्यानन्दजी मुनि श्री सुशीलकुमारजी मुनि श्री नथमलजी आचार्य श्री तुलसीजी आचार्य श्री विजयसमुद्र सूरिजी तथा अन्य मुनिगण।

मुनियो का पत्र विनोबा के नाम

ANUVRAT VIHAR — २१०, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग,

वीर निर्वाण तिथि २४-१ २५०१ — नयी दिल्ली, दिनाक ७ १२ '७४

भद्रपरिणामी, धर्मानुरागी श्री आचार्य विनोबाजी,

आपके समभावपूर्ण चिन्तन और सामयिक सुझाव को ध्यान मे रखकर 'जैन धर्म-सार' और उसका नया रूप 'जिणधम्म' की सकलना हुई, उसमे श्री जिनेन्द्रकुमार वर्णीजी और अनेक विद्वानो का योग रहा। सर्व-सेवा-सघ तथा श्री राधाकृष्ण बजाज के अथक परिश्रम और प्रयत्न से सगीति की समायोजना हुई। सगीति मे भाग लेनेवाले सभी आचार्यो, मुनियो और विद्वानो ने आपके चिन्तन का अनुमोदन किया और समग्र जैन-समाज सम्मत 'समणसुत्तं' नामक एक ग्रन्थ की निष्पत्ति हुई, जो भगवान् महावीर के २५ सौवें निर्वाण-वर्ष के अवसर पर एक बडी उपलब्धि के रूप मे स्वीकार किया गया। दिनाक २९ ३० नवम्बर १९७४ को सगीति हुई, जिसमे ग्रन्थ का पारायण किया गया। आचार्यों, मुनियो और विद्वानो के परामर्श, समीक्षाएँ और समालोचनात्मक दृष्टिकोण प्राप्त हुए। अन्त मे ग्रन्थ के परिशोधन का भार मुनियो पर छोडा गया और वर्णीजी का योग साथ मे रखा गया।

एक सप्ताह की अवधि में मुनियो ने बार-बार बैठकर चिन्तनपूर्वक ग्रन्थ का परिशोधन किया। इसमे हमे पूरा सन्तोष हुआ है। अब हम चाहते हैं कि इस ग्रन्थ का आप गहराई से निरीक्षण करें और धम्मपद की भाँति इसके क्रम की योजना करें। और भी जो सुझाव हो, वे आप दें। हम सबको इससे बडी प्रसन्नता होगी।

संगीति की विभिन्न बैठकों के अध्यक्षगण

विद्यानन्द मुनि
मुनिश्री विद्यानन्दजी

मुनि सुशीलकुमार
मुनिश्री सुशीलकुमारजी

मुनि जनक विजय
- मुनिश्री जनकविजयजी

मुनि नथमल
मुनिश्री नथमलजी -

जिनेन्द्र वर्णी
जिनेन्द्रवर्णीजी -
ग्रन्थ संकलनकर्ता

राम हरि
राम हरि
राम हरि 12 12 1974
हस्ताक्षर श्री विनोबाजी

समाधान

(विनोबा)

मेरे जीवन में मुझे अनेक समाधान प्राप्त हुए हैं। उसमें आखिरी, अंतिम समाधान, जो शायद सर्वोत्तम समाधान है, इसी साल प्राप्त हुआ। मैंने कई दफा जैनों से प्रार्थना की थी कि जैसे वैदिक धर्म का सार गीता में सात सौ श्लोकों में मिल गया है, बौद्धों का धम्मपद में मिल गया है, जिसके कारण ढाई हजार साल के बाद भी बुद्ध का धर्म लोगों को मालूम होता है, वैसे जैनों का होना चाहिए। यह जैनों के लिए मुश्किल बात थी, इसलिए कि उनके अनेक पंथ हैं और ग्रंथ भी अनेक हैं। जैसे बाइबिल है या कुरआन है, कितना भी बड़ा हो, एक ही है। लेकिन जैनों में श्वेताम्बर, दिगम्बर ये दो हैं, उसके अलावा तेरापंथी, स्थानकवासी ऐसे चार मुख्य पंथ तथा दूसरे भी पंथ हैं। और ग्रंथ तो बीस-पचीस हैं। मैं बार-बार उनको कहता रहा कि आप सब लोग, मुनिजन, इकट्ठा होकर चर्चा करो और जैनों का एक उत्तम, सर्वमान्य धर्मसार पेश करो। आखिर वर्णीजी नाम का एक 'बेवकूफ' निकला और बाबा की बात उसको जँच गयी। वे अध्ययनशील हैं, उन्होंने बहुत मेहनत कर जैन-परिभाषा का एक कोश भी लिखा है। उन्होंने जैन-धर्म-सार नाम की एक किताब प्रकाशित की, उसकी हजार प्रतियाँ निकालीं और जैन-समाज में विद्वानों के पास और जैन-समाज के बाहर के विद्वानों के पास भी भेज दी। विद्वानों के सुझावों पर से कुछ गाथाएँ हटाना, कुछ जोड़ना, यह सारा करके 'जिणधम्म' किताब प्रकाशित की। फिर उस पर चर्चा करने के लिए बाबा के आग्रह से एक संगीति बैठी उसमें मुनि, आचार्य और दूसरे विद्वान, श्रावक मिलकर लगभग तीन सौ लोग इकट्ठे हुए। बार-बार चर्चा करके फिर उसका नाम भी बदला, रूप भी बदला, आखिर सर्वानुमति से 'श्रमणसूक्तम्'–जिसे अर्धमागधी में 'समणसुत्तं' कहते हैं, बना। उसमें ७५६ गाथाएँ हैं। ७ का आँकड़ा जैनों को बहुत प्रिय है। ७ और १०८ का गुणा करो तो ७५६ बनता है। सर्वसम्मति से इतनी गाथाएँ लीं।

और तय किया कि चम गुरुन नयादगी को वर्धमान जयन्ती आयेगी, जो इस साल २८ अप्रैल को पड़ती है, उम दिन वह ग्रन्थ अत्यन्त शुद्ध रीति से प्रकाशित किया जायगा । जयन्ती के दिन जैन-धर्म सार, जिसका नाम 'समणसुत्त' है, सारे भारत को मिलेगा । और आगे के लिए जब तक जैन धर्म मौजूद है, तब तक सारे जैन लोग और दूसरे धर्म के लोग भी जब तक उनके धर्म वैदिक, बौद्ध इत्यादि जीवित रहेंगे तब तक 'जैन धर्म-सार' पढ़ते रहेंगे । एक बहुत बड़ा कार्य हुआ है, जो हजार, पन्द्रह सौ साल में हुआ नहीं था । उसका निमित्तमात्र बाबा बना, लेकिन बाबा को पूरा विश्वास है कि यह भगवान् महावीर की कृपा है ।

मैं कबूल करता हूँ कि मुझ पर गीता का गहरा असर है । उस गीता को छोड़कर महावीर से बढ़कर किसीका असर मेरे चित्त पर नहीं है । उसका कारण यह है कि महावीर ने जो आज्ञा दी है वह बाबा को पूर्ण मान्य है । आज्ञा यह कि सत्यग्राही बनो । आज जहाँ जहाँ जो उठा सो सत्याग्रही होता है । बाबा को भी व्यक्तिगत सत्याग्रही के नाते गांधीजी ने पेश किया था, लेकिन बाबा जानता था वह कौन है, वह सत्याग्रही नहीं, सत्यग्राही है । हर मानव के पास सत्य का अंश होता है, इसलिए मानव जन्म सार्थक होता है । तो सब धर्मों में, सब पन्थों में, सब मानवों में सत्य का जो अंश है, उसको ग्रहण करना चाहिए । हमको सत्यग्राही बनना चाहिए, यह जो शिक्षा है महावीर की, बाबा पर गीता के बाद उसीका असर है । गीता के बाद कहा, लेकिन जब देखता हूँ तो मुझे दोनों में फरक ही नहीं दीखता है ।

ब्रह्म विद्या मन्दिर,
पवनार (वर्धा) २५ १२ '७४

राम हरि
राम हरि
राम हरि
हस्ताक्षर श्री विनोबाजी

भू मि का

'समणसुत्तं' नामक इस ग्रन्थ की संरचना या संकलना आचार्य विनोबाजी की प्रेरणा से हुई है। उसी प्रेरणा के फलस्वरूप संगीति या वाचना हुई और उसमें इसके प्रारूप को स्वीकृति प्रदान की गयी। यह एक विशिष्ट ऐतिहासिक घटना है।

विश्व के समस्त धर्मों का मूल आधार है—आत्मा और परमात्मा। इन्हीं दो तत्त्वरूप स्तम्भों पर धर्म का भव्य भवन खड़ा हुआ है। विश्व की कुछ धर्म-परम्पराएँ आत्मवादी होने के साथ-साथ ईश्वरवादी हैं और कुछ अनीश्वरवादी। ईश्वरवादी परम्परा वह है जिसमें सृष्टि का कर्ता-धर्ता या नियामक एक सर्वशक्तिमान् ईश्वर या परमात्मा माना जाता है। सृष्टि का सब-कुछ उसी पर निर्भर है। उसे ब्रह्मा, विधाता, परमपिता आदि कहा जाता है। इस परम्परा की मान्यता के अनुसार भूमण्डल पर जब-जब अधर्म बढ़ता है, धर्म का ह्रास होता है, तब-तब भगवान् अवतार लेते हैं और दुष्टों का दमन करके सृष्टि की रक्षा करते हैं, उसमें सदाचार का बीज-वपन करते हैं।

अनीश्वरवादी परम्परा

दूसरी परम्परा आत्मवादी होने के साथ साथ अनीश्वरवादी है जो व्यक्ति के स्वतंत्र विकास में विश्वास करती है। प्रत्येक व्यक्ति या जीव अपना सम्पूर्ण विकास कर सकता है। अपने में राग-द्वेष, विहीनता या वीतरागता का सर्वोच्च विकास करके वह परमपद को प्राप्त करता है। वह स्वयं ही अपना नियामक या संचालक है। वह स्वयं ही अपना मित्र है, शत्रु है। जैनधर्म इसी परम्परा का अनुयायी स्वतन्त्र तथा वैज्ञानिक धर्म है। यह परम्परा संक्षेप में 'श्रमण-संस्कृति' के नाम से पहचानी जाती है। इस आध्यात्मिक परम्परा में बौद्ध आदि अन्य धर्म भी आते हैं। ईश्वरवादी भारतीय परम्परा 'ब्राह्मण-संस्कृति' के नाम से जानी जाती है।

प्राचीनता

किसी धर्म की श्रेष्ठता अथवा उपादेयता उसकी प्राचीनता अथवा अर्वाचीनता पर अवलम्बित नही होती, किन्तु यदि कोई धार्मिक परम्परा प्राचीन होने के साथ साथ सुदीघकाल तक सजीव, सक्रिय एव प्रगतिशील रही है तथा लोक के उन्नयन, नैतिक विकास तथा साँस्कृतिक समृद्धि में प्रवल प्रेरक एव सहायक सिद्ध हुई है तो उसकी प्राचीनता उस धम के स्थायी महत्त्व तथा उसमें निहित सावकालिक एव सार्वभौमिक तत्त्वो की सूचक ही कही जा सकती है। जैनधर्म की परम्परा आचार और विचार दोना दृष्टियो से नि सन्देह सुदूर अतीत तक जाती है। इतिहासज्ञो ने अव इस तथ्य को पूणतया स्वीकार कर लिया है कि तीर्थंकर वधमान महावीर जैनधम के मूल सस्थापक नही थे। उनसे पूव और भी तीर्थकर हो गये ह, जिन्होने जिनधम की पुनर्स्थापना की और उसकी प्राणधारा को आगे वढाया। यह ठीक है कि इतिहास की पहुँच जनधम के मूल उद्गम तक नही है, किन्तु उपलव्ध पुरातात्त्विक एव साहित्यिक तथ्यो के निष्पक्ष विश्लेषण से अव यह निर्विवाद सिद्ध हो गया है कि जैनधम एक अति प्राचीन धर्म है। वातरशना मुनियो, केशियो, व्रात्य-क्षत्रियो के विषय में ऋग्वेद, श्रीमद्भागवत आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो मे प्रचुर उल्लेख उपलव्ध ह।

जैन-इतिहास मे तिरसठ 'शलाका-पुरुषो' का वणन आता है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी नामक प्रत्येक सुदीघ कालखण्ड में ये शलाका पुरुष होते ह, जो मानव-सभ्यता के विकास में अपने-अपने समय में धम-नीति की प्रेरणा देते है। इन शलाका-पुरुषो में २४ तीर्थंकरो का स्थान सर्वोपरि है। वतमान अवसर्पिणी कल्प में, उसके चतुर्थ कालखण्ड में जो २४ तीर्थंकर हुए है, उनमे सर्वप्रथम ऋषभदेव है जो राजा नाभि तथा माता मरुदेवी के पुत्र थे। इन्हें आदिनाथ, आदिब्रह्मा, आदीश्वर आदि भी कहा जाता है। सवसे अतिम, २४वें तीर्थंकर, महावीर ढाई हजार वप पूव हो गये है। तथागत बुद्ध भी इन्हीके समकालीन थे। भगवान् महावीर के २५० वर्ष पूर्व, २३वें तीर्थंकर पाश्वनाथ हो गये है, जो वाराणसी के राजा अश्वसेन के पुत्र थे। वौद्धागमो में महावीर का उल्लेख तो निगठनातपुत्त के रूप मे मिलता ही है, पार्श्व-परम्परा का उल्लेख भी चातुर्याम-धर्म के रूप में मिलता

मनुष्य हिंसक हो सकता है और हिंसा करते हुए भी हिंसक नही होता। मछली मारने की भावना से पानी में जाल डालकर बैठा हुआ व्यक्ति मछली के न फँसने पर भी हिंसक है, क्योकि उसका भाव मछली मारने का है और खेत जोतते समय किसान के द्वारा क्षुद्र जीवो के मरते हुए भी वह हिंसक नही है, क्योकि उसका भाव अन्न उपजाने का है, जीवो को मारने का नही। अत जैनधर्म में हिंसा और अहिंसा कर्ता के भावो पर अवलम्बित है, क्रिया पर नहीं। यदि बाह्यत होनेवाली हिंसा को ही हिंसा माना जाये तब तो कोई अहिंसक हो नही सकता क्योकि जगत में सर्वत्र जीव हैं और उनका घात होता रहता है। इसलिए जो सावधानतापूर्वक प्रवृत्ति करता है उसके भावो में अहिंसा है, अत वह अहिंसक है और जो अपनी प्रवृत्ति में सावधान नही है उसके भावो में हिंसा है, अत वह हिंसा नही करने पर भी हिंसक होता है। यह सब विश्लेषण अनेकान्त-दृष्टि के बिना सभव नही है। अत अनेकान्त-दृष्टि सम्पन्न मनुष्य ही सम्यग्दृष्टि माना गया है और सम्यग्दृष्टि ही सम्यग्ज्ञानी और सम्यक्चारित्रशील होता है। जिसकी दृष्टि सम्यक् नही है उसका ज्ञान भी सच्चा नही है और न आचार ही यथार्थ है। इसी-से जैन-मार्ग में सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन का विशेष महत्त्व है। वही मोक्षमार्ग की आधार-शिला है।

ससार एक बन्धन है। उस बन्धन मे जीव अनादिकाल से पडा है, इससे वह अपने यथार्थ स्वरूप को भूल उस बन्धन को ही अपना स्वरूप मानकर उसम रम रहा है और उसकी यह भूल ही उसके इस बन्धन का मूल है। अपनी इस भूल पर दृष्टि पडते ही जब उसको दृष्टि अपने स्वरूप की ओर जाती है कि मैं चैतन्यशक्ति सम्पन्न हूँ और भौतिक ऊर्जा शक्ति से भी विशिष्ट शक्ति मेरा चैतन्य है जो अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन अनन्तसुख और अनन्त-शक्ति का भण्डार है यह श्रद्धा जगते ही उसे सम्यग्दृष्टि प्राप्त होती है और तब वह सम्यक् आचार के द्वारा अपने यथार्थ स्वरूप में स्थिर होने का प्रयत्न करता है। अत जैनधर्म का आचारमार्ग सम्यग्ज्ञानपूर्वक वीतरागता तक पहुँचने का राजमार्ग है।

अनेकान्त

वस्तुत देखा जाय तो इस विशाल लोक में सदेह व्यक्ति का अधिक से अधिक ज्ञान भी सीमित, अपूर्ण और एकागी ही है। वह वस्तु के अनन्त

गुणो का समग्र अनुभव एक साथ कर ही नही पाता, अभिव्यक्ति तो दूर की वात है। भाषा की असमर्थता और शब्दार्थ की सीमा जहाँ-तहाँ झगडे और विवाद पैदा करती है। मनुष्य का अह उसमें और वृद्धि करता है। लेकिन अनेकान्त समन्वय का, विरोध-परिहार का मार्ग प्रशस्त करता है। सबके कथन में सत्याश होता है और उन सत्याशो को समझकर विवाद को सरलता से दूर किया जा सकता है। जिसका अपना कोई हठ या कदाग्रह नही होता, वही अनेकान्त के द्वारा गुत्थियो को भलीभाँति सुलझा सकता है। यो प्रत्येक मनुष्य अनेकान्त में जीता है, परन्तु उसके ध्यान मे नही आ रहा है कि वह ज्योति कहाँ है जिससे वह प्रकाशित है। आँखो पर जब तक आग्रह की पट्टी बँधी रहती है, तब तक वस्तुस्वरूप का सही दर्शन नही हो सकता। अनेकान्त वस्तु या पदार्थ की स्वतत्र सत्ता का उद्घोष करता है। विचार-जगत् में अहिंसा का मूतरूप अनेकान्त है। जो अहिंसक होगा वह अनेकान्ती होगा और जो अनेकान्ती होगा, वह अहिंसक होगा।

आज जैनधर्म का जो कुछ स्वरूप उपलब्ध है, वह महावीर की देशना मे अनुप्राणित है। आज उन्हीका धर्मशासन चल रहा है। महावीर दर्शन और धर्म के समन्वयकार थे। ज्ञान, दर्शन एव आचरण का समन्वय ही मनुष्य को दु ख-मुक्ति की ओर ले जाता है। ज्ञानहीन कर्म और कर्महीन ज्ञान—दोनो व्यर्थ है। ज्ञान सत्य का आचरण और आचरित सत्य का ज्ञान—दोनो एक साथ होकर ही सार्थक होते ह।

वस्तु स्वभाव धर्म

जैन-दर्शन की यह देन बडी महत्त्वपूर्ण है कि वस्तु का स्वभाव ही धर्म है—वत्थु सहावो धम्मो। सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभावानुसार प्रवर्तमान है। उसका अस्तित्व उत्पत्ति, स्थिति और विनाश से युक्त है। पदार्थ अपने स्वभाव से च्युत नही होता—वह जड हो या चेतन। सत्ता के रूप मे वह सदैव स्थित ह, पर्याय की अपेक्षा वह निरन्तर परिवर्तनशील ह। इसी त्रिपदी पर सम्पूर्ण जैनदर्शन का प्रासाद खडा ह। इसी त्रिपदी के आधार पर सम्पूर्ण लोक-व्यवस्था का प्रतिपादन जैन-दर्शन की विशेषता है। षड्द्रव्यो की स्थिति मे स्पष्ट है कि यह लोक अनादि अनन्त है, इसका कर्ता-धर्ता या निर्माता कोई व्यक्ति-विशेष या

शक्ति विशेष नहीं है। देश-काल से परे, वस्तुस्वभाव के आधार पर आत्मा की सत्ता स्वीकार करने पर समाज में विषमता, वर्गभेद, वर्णभेद आदि का स्थान ही नहीं रह जाता। ऐसी स्थिति में, व्यवहार-जगत में महावीर जैसा वीतराग तत्त्वदर्शी यही कह सकता है कि समभाव ही अहिंसा है, मन में ममत्व का भाव न होना ही अपरिग्रह है। सत्य शास्त्र में नहीं अनुभव में है, ब्रह्म में चर्या करना ही ब्रह्मचर्य है। कर्म से ही मनुष्य ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय, कर्म से ही वैश्य और कर्म से ही शूद्र। चारित्रहीन व्यक्ति को सम्प्रदाय और वेश, धन और वन, सत्ता और ऐश्वर्य, ज्ञान और पोथियाँ त्राण नहीं देते। देवी-देवताओं या प्रकृति की विभिन्न शक्तियों को प्रसन्न करने के लिए तरह-तरह के कर्मकाण्डी अनुष्ठानों से भी मानव को त्राण नहीं मिल सकता। आत्म प्रतीति, आत्मज्ञान और आत्म-लीनता—निजानन्द रसलीनता ही मनुष्य को मुक्ति दिलाती है। निश्चयतः यही सम्यक्त्व है। महावीर सही अर्थों में निर्ग्रन्थ थे—ग्रन्थ और ग्रंथियों का भेदकर ही वे देह में भी विदेह थे। उन्हीं की निरक्षरी सर्वबोधगम्य पीयूषवर्षिणी वाणी की अनुगूंज वातावरण में है।

श्रावकाचार

साधना शक्त्यनुकूल ही हो सकती है। इसीलिए जैन आचार-मार्ग को श्रावकाचार और श्रमणाचार इन दो विभागों में विभाजित किया गया है। श्रावकों का आचार श्रमणों की अपेक्षा सरल होता है क्योंकि वे गृह-त्यागी नहीं होते और संसार के व्यापारों में लगे रहते हैं। किन्तु श्रावक अपने आचार के प्रति निरन्तर सचेत रहता है और उसका लक्ष्य श्रमणधर्म की ओर बढ़ने का होता है। जब श्रावक की आत्मशक्ति बढ़ जाती है और रागद्वेषादि विकारों पर, क्रोधादि कषायों पर उसका नियंत्रण बढ़ने लगता है तब वह धीरे-धीरे एक-एक श्रेणी बढ़कर श्रमण-पथ पर विचरने लगता है। बारह व्रतों का धीरे धीरे निरतिचार पालन करते हुए और एकादश श्रेणियों को उत्तीर्ण कर श्रावक श्रमणदशा में पहुँचता है। वस्तुतः देखा जाय तो श्रावक-धर्म श्रमणधर्म का आधार या पूरक है। यह उल्लेखनीय बात है कि जैनधर्म का सम्पूर्ण आचार आत्मलक्षी है, और श्रावक तथा श्रमण के लिए व्यवस्थित, क्रमिक विकासोन्मुख, ऊर्ध्वगामी संहिता उपलब्ध है। केवल नीति-उपदेश

या पारस्परिक व्यवहार की दृष्टि से आचार-नियमों का प्रतिपादन जैनधर्म मे नही है। शक्ति की सापेक्षता एव विकास की प्रक्रिया मे बाह्य क्रियाकाण्ड या रूढिगत लोकमूढता, देवमूढता या गुरुमूढता को उसमे कलई स्थान नही है। अणुव्रतादि का पालन श्रावक को जहाँ साधक बनने की प्रेरणा देता है, वहाँ वह समाज के सुसचालन में भी अपूर्व भूमिका निभाता है।

ग्रन्थ-परिचय

'समणसुत्त' ग्रन्थ मे जैन धर्म दर्शन की सारभूत बातो का सक्षेप में, क्रमपूर्वक सकलन किया गया है। ग्रन्थ में चार खण्ड है और ४४ प्रकरण है। कुल मिलाकर ७५६ गाथाएँ है।

ग्रथ की सरचना या सकलना प्राकृत गाथाओ मे की गयी है, जो गेय है तथा पारायण करने योग्य है। जैनाचार्यो ने प्राकृत गाथाओं को सूत्र कहा है। प्राकृत के सुत्त शब्द का अर्थ सूत्र, सूक्त तथा श्रुत भी होता है। जैन परम्परा मे सूत्र शब्द रूढ है। इसीलिए ग्रथ का नाम, 'समणसुत्त' (श्रमणसूत्रम) रखा गया है। गाथाओ का चयन प्राय प्राचीन मूल ग्रन्थो मे किया गया है। अत यह समणसुत्त आगमवत् स्वत प्रमाण है।

प्रथम खण्ड 'ज्योतिर्मुख' है, जिसमे व्यक्ति 'खाओ पीओ मौज उडाओ' की निम्न भौतिक भूमिका या बाह्य जीवन से ऊपर उठकर आभ्यन्तर जीवन के दर्शन करता है। वह विषय-भोगो को असार, दु खमय तथा जन्म जरा मरण रूप ससार का कारण जानकर, इनसे विरक्त हो जाता है। राग-द्वेष को ही अपना सबसे बडा शत्रु समझकर वह हर प्रकार से इनके परिहार का उपाय करने लगता है और क्रोध मान माया व लोभ के स्थान पर क्षमा। मार्दव, सरलता व सन्तोष आदि गुणो का आश्रय लेता है। कषायो का निग्रह करके विषय-गृद्ध इन्द्रियो को सयमित करता है। सभी प्राणियों को आत्मवत् देखता हुआ उनके सुख-दु ख का वेदन करने लगता है और दूसरो की आवश्यकताओ का सम्मान करते हुए परिग्रह का यथाशक्ति त्याग करता है। स्व व पर के प्रति सदा जागरूक रहता है तथा यतनाचारपूर्वक मोक्षमार्ग मे निर्भय विचरण करने लगता है।

द्वितीय खण्ड 'मोक्षमार्ग' है। इसमे पदार्पण करने पर व्यक्ति की समस्त शकाएँ, भययुक्त सवेदनाए आकाक्षाएँ तथा मूढताएँ, श्रद्धा ज्ञान व चारित्र

अथवा भक्ति ज्ञान कर्म की समन्वित त्रिवेणी मे घुल जाती है। इष्टानिष्ट के समस्त द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं तथा ममता व वात्सल्य का झरना फट पडता है। सांसारिक भोगो के प्रति विरत होकर उसका चित्त प्रशान्त हो जाता है। घर म रहते हुए भी वह जल में कमल की भाँति अलिप्त रहता है। व्यापार-धन्धा आदि सब कुछ करते हुए भी वह कुछ नही करता। श्रावक तथा श्रमश श्रमण धर्म का अवलम्बन लेकर उसका चित्त सहज ही ज्ञान-वैराग्य तथा ध्यान की विविध श्रेणियो को उत्तीर्ण करते हुए धीरे धीरे ऊपर उठने लगता है, यहाँ तक कि उसकी समस्त वासनाएँ निर्मूल हो जाती है, ज्ञान-सूर्य पूरी प्रखरता के साथ चमकने लगता है और आनन्द-सागर हिलोरें लेने लगता है। जब तक देह है, तब तक वह अर्हन्त या जीवन्मुक्त दशा में दिव्य उपदेशो के द्वारा जगत में कल्याणमार्ग का उपदेश करते हुए विचरण करता है, और जब देह स्थिति या आयु पूर्ण हो जाती है तब सिद्ध या विदेह दशा को प्राप्त कर सदा के लिए आनन्द-सागर म लीन हो जाती है।

तृतीय खण्ड 'तत्त्व-दर्शन' है जिसमे जीव-अजीव आदि सप्त तत्त्वो का अथवा पुण्य-पाप आदि नौ पदार्थो का विवेचन है। जीवात्मा पुद्गल परमाणु आदि षट् द्रव्यो का परिचय देकर उनके सयोग व विभाग द्वारा विश्व सृष्टि की अकृत्रिमता तथा अनादि-अनन्तता प्रतिपादित की गयी है।

चतुर्थ खण्ड 'स्याद्वाद' है। ऊपर अनेकान्त का सक्षिप्त परिचय दिया जा चुका है। यही जैनदर्शन का प्रधान न्याय है। इस खण्ड में प्रमाण, नय, निक्षेप, व सप्तभगी जैसे गूढ व गम्भीर विषयो का हृदयग्राही, सरल व सक्षिप्त परिचय दिया गया है। अन्त म वीरस्तवन के साथ ग्रन्थ समाप्त होता है।

कहा जा सकता है कि इन चार खण्डो में अथवा ७५६ गाथाओ में जैनधर्म, तत्त्व-दर्शन तथा आचार-मार्ग का सर्वाङ्गीण सक्षिप्त परिचय आ गया है। यो तो जैन-वाङ्मय विपुल है और एक-एक शाखा पर अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। सूक्ष्मतापूर्वक अध्ययन करने के लिए तो निश्चय ही उन ग्रन्थो का सहारा लेना आवश्यक है। किन्तु साम्प्रदायिक अभिनिवेश से परे, मूलरूप मे जैनधर्म-सिद्धान्त का, आचार-प्रणाली का, जीवन के क्रमिक विकास की प्रक्रिया का, सर्वसाधारण को परिचय कराने के लिए यह एक सर्वसम्मत प्रातिनिधिक ग्रन्थ है। जैनं जयति शासनम्।

अनुक्रम

प्रथम खण्ड ज्योतिर्मुख

द्वितीय खण्ड मोक्षमार्ग

तृतीय खण्ड : तत्त्व-दर्शन

चतुर्थ खण्ड : स्याद्वाद

●

समणसुत्तं

प्रथम खण्ड

ज्योतिर्मुख

१ मङ्गलसूत्र

१ णमो अरहताण । णमो सिद्धाण । णमो आयरियाण ।
णमो उवज्झायाण । णमो लोए सव्वसाहूण ।।१।।
नम अर्हद्भ्य । नम सिद्धेभ्य । नम आचार्येभ्य ।
नम उपाध्यायेभ्य । नमो लोके सर्वसाधुभ्य ।।१।।

२ एसो पचणमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मगलाण च सव्वेसि, पढम हवइ मगल ।।२।।
एप पचनमस्कार, सवपापप्रणाशन ।
मङ्गलेपु च सर्वेपु, प्रथम भवति मङ्गलम् ।।२।।

३–५ अरहता मगल । सिद्धा मगल । साहू मगल ।
केवलिपण्णत्तो धम्मो मगल ।।३।।
अरहता लोगुत्तमा । सिद्धा लोगुत्तमा । साहू लोगुत्तमा ।
केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो ।।४।।
अरहते सरण पव्वज्जामि । सिद्धे सरण पव्वज्जामि ।
साहू सरण पव्वज्जामि ।
केवलिपण्णत्त धम्म सरण पव्वज्जामि ।।५।।

अर्हत मङ्गलम् । सिद्धा मङ्गलम् । साधव मङ्गलम् ।
केवलिप्रज्ञप्त धर्म मङ्गलम् ।।३।।
अर्हन्त लोकोत्तमा । सिद्धा लोकोत्तमा । साधव लोकोत्तमा ।
केवलिप्रज्ञप्त धर्म लोकोत्तम ।।४।।
अर्हत शरण प्रपद्ये । सिद्धान् शरण प्रपद्ये । साधून् शरण प्रपद्ये ।
केवलिप्रज्ञप्त धर्म शरण प्रपद्ये ।।५।।

१ मङ्गलसूत्र

१ अर्हतो को नमस्कार।
सिद्धो को नमस्कार।
आचार्यों को नमस्कार।
उपाध्यायो को नमस्कार।
लोकवर्ती सर्वसाधुओ को नमस्कार॥

२ यह पच नमस्कार मन्त्र सब पापो का विनाश करनेवाला है और समस्त मगलो में प्रथम मगल है।

३-५ अर्हत् मगल है।
सिद्ध मगल है।
साधु मगल है।
केवलिप्रणीत धर्म मगल है।
अर्हत् लोकोत्तम है।
सिद्ध लोकोत्तम है।
साधु लोकोत्तम है।
केवलि-प्रणीत धर्म लोकोत्तम है।
अर्हतो की शरण लेता हूँ।
सिद्धो की शरण लेता हूँ।
साधुओ की शरण लेता हूँ।
केवलि-प्रणीत धर्म की शरण लेता हूँ।

६ झायहि पंच वि गुरवे, मंगलचउसरणलोयपरियरिए ।
णर-सुर-खेयर-महिए, आराहणणायगे वीरे ॥६॥
ध्यायत पञ्च अपि गुरून्, मङ्गल-चतुःशरण-लोकपरिकरितान् ।
नरसुरखेचरमहितान्, आराधननायकान् वीरान् ॥६॥

७ घणघाइकम्ममहणा, तिहुवणवरभव्व-कमलमत्तंडा ।
अरिहा अणंतणाणी, अणुवमसोक्खा जयंतु जए ॥७॥
घनघातिकर्ममथना:, त्रिभुवनवरभव्यकमलमार्तण्डा: ।
अर्हा (अर्हन्त:) अनन्तज्ञानिन:, अनुपमसौख्या जयन्तु जगति ॥

८ अट्ठविहकम्मवियला, णिट्ठियकज्जा पणट्ठसंसारा ।
दिट्ठसयलत्थसारा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥८॥
अष्टविधकर्मविकला:, निष्ठितकार्या: प्रणष्टसंसारा: ।
दृष्टसकलार्थसारा:, सिद्धा: सिद्धिं मम दिशन्तु ॥८॥

९ पंचमहव्वयतुंगा, तक्कालिय-सपरसमय-सुदधारा ।
णाणागुणगणभरिया, आइरिया मम पसीदंतु ॥९॥
पञ्चमहाव्रततुङ्गा:, तत्कालिकस्वपरसमयश्रुतधारा: ।
नानागुणगणभरिता:, आचार्या मम प्रसीदन्तु ॥९॥

१० अण्णाणघोरतिमिरे, दुरंततीरम्हि हिंडमाणाणं ।
भवियाणुज्जोययरा, उवज्झाया वरमदिं देंतु ॥१०॥
अज्ञानघोरतिमिरे, दुरन्ततीरे हिण्डमानानाम् ।
भव्यानाम् उद्योतकरा:, उपाध्याया: वरमतिं ददतु ॥१०॥

११ थिरधरियसीलमाला, ववगयराया जसोहपडिहत्था ।
बहुविणयभूसियंगा, सुहाइं साहू पयच्छंतु ॥११॥
स्थिरधृतशीलमाला:, व्यपगतरागा: यशओघप्रतिहस्ता: ।
बहुविनयभूषिताङ्गा:, सुखानि साधव: प्रयच्छन्तु ॥११॥

१२ अरिहंता, असरीरा, आयरिया, उवज्झाय मुणिणो ।
पंचक्खरनिप्पण्णो, ओंकारो पंच परमिट्ठी ॥१२॥
अर्हन्त: अशरीरा:, आचार्या: उपाध्याया: मुनय: ।
पञ्चाक्षरनिष्पन्न:, ओङ्कार: पञ्च परमेष्ठिन: ॥१२॥

६ मगलस्वरूप, चतु शरणरूप तथा लोकोत्तम, परम आराध्य एव नर-सुर विद्याधरो द्वारा पूजित, कमशत्रु के विजेता पच गुरुओ (परमेष्ठी) का ध्यान करना चाहिए ।

७ सघन घातिकर्मों का आलोडन करनेवाले, तीनो लोको म विद्यमान भव्यजीवरूपी कमलो को विकसित करनेवाले सूय, अन तज्ञानी और अनुपम सुखमय अहत् की जगत् में जय हो ।

८ अष्टकर्मो से रहित, कृतकृत्य, ज म-मृत्यु के चक्र से मुक्त तथा सकल तत्त्व-रहस्य के द्रष्टा सिद्ध मुझे सिद्धि प्रदान करें ।

९ पञ्च महाव्रतो से समुन्नत, तत्कालीन स्वसमय और पर-समय रूप श्रुत के ज्ञाता तथा नाना गुणसमूह से परिपूर्ण आचाय मुझ पर प्रसन्न हो ।

१० जिसका ओर-छोर पाना कठिन है, उस अज्ञानरूपी घोर अधकार में भटकनेवाले भव्य जीवो के लिए ज्ञान का प्रकाश देनेवाले उपाध्याय मुझे उत्तम गति प्रदान करें ।

११ शीलरूपी माला को स्थिरतापूवक धारण करनेवाले, राग रहित, यश समूह से परिपूण तथा प्रवर विनय मे अलकृत शरीर-वाले साधु मुझे सुख प्रदान कर ।

१२ अहत्, अशरीरी (सिद्ध), आचाय, उपाध्याय तथा मुनि—इन पाँचो के प्रथम पाँच अक्षरो (अ + अ + आ + उ + म) को मिलाकर ॐ (ओकार) बनता है जो पच-परमेष्ठी का वाचक है—बीजरूप है ।

१३ उसहमजियं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च ।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥१३॥
ऋषभमजितं च वन्दे, संभवमभिनन्दनं च सुमतिं च ।
पद्मप्रभं सुपार्श्वं, जिनं च चन्द्रप्रभं वन्दे ॥१३॥

१४ सुविहिं च पुप्फयंतं, सीयल सेयंस वासुपुज्जं च ।
विमलमणंत-भयवं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥१४॥
सुविधिं च पुष्पदन्तं, शीतलं श्रेयांसं वासुपूज्यं च ।
विमलम् अनन्तभगवन्तं, धर्मं शान्तिं च वन्दे ॥१४॥

१५ कुंथुं च जिणवरिंदं, अरं च मल्लिं च सुव्वयं च णमिं ।
वंदामि रिट्ठणेमिं, तह पासं वड्ढमाणं च ॥१५॥
कुन्थुं च जिनवरेन्द्रम् अरं च मल्लिं च सुव्रतं च नमिम् ।
वन्दे अरिष्टनेमिं तथा पार्श्वं वर्धमानं च ॥१५॥

१६ चंदेहिं णिम्मलयरा, आइच्चेहिं अहियं पयासंता ।
सायरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥१६॥
चन्द्रैर्निर्मलतरा, आदित्यैः अधिकं प्रकाशमानाः ।
सागरवरगम्भीराः, सिद्धाः सिद्धिं मम दिशन्तु ॥१६॥

२ जिनशासनसूत्र

१७ जमल्लीणा जीवा, तरंति संसारसायरमणंतं ।
तं सव्वजीवसरणं, णंददु जिणसासणं सुइरं ॥१॥
यद् आलीना जीवाः तरन्ति संसारसागरमनन्तम् ।
तत् सर्वजीवशरणं, नन्दतु जिनशासनं सुचिरम् ॥१॥

१८ जिणवयणमोसहमिणं, विसयसुह विरेयणं अमिदभूयं ।
जरमरणवाहिहरणं, खयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥२॥
जिनवचनमौषधमिदं, विषयसुखविरेचनम्-अमृतभूतम् ।
जरामरणव्याधिहरणं, क्षयकरणं सर्वदुःखानाम् ॥२॥

१३ मैं १ ऋषभ, २ अजित, ३ सम्भव, ४ अभिनन्दन, ५ सुमति, ६ पद्मप्रभु, ७ सुपार्श्व तथा ८ चन्द्रप्रभु को वन्दन करता हूँ।

१४ मैं ९ सुविधि (पुष्पदन्त), १० शीतल, ११ श्रेयास, १२ वासुपूज्य, १३ विमल, १४ अनन्त, १५ धर्म, १६ शान्ति को वन्दन करता हूँ।

१५ मैं १७ कुन्थु, १८ अर, १९ मल्लि, २० मुनिसुव्रत, २१ नमि, २२ अरिष्टनेमि, २३ पार्श्व तथा २४ वर्धमान को वन्दन करता हूँ।

१६ चन्द्र से अधिक निर्मल, सूर्य से अधिक प्रकाश करनेवाले, सागर की भाँति गम्भीर सिद्ध भगवान् मुझे सिद्धि (मुक्ति) प्रदान करे।

२ जिनशासनसूत्र

१७ जिसमें लीन होकर जीव अनन्त ससार-सागर का पार कर जाते है तथा जो समस्त जीवो के लिए शरणभूत है, वह जिनशासन चिरकाल तक समृद्ध रहे।

१८ यह जिनवचन विषयसुख का विरेचन, जरा-मरणरूपी व्याधि का हरण तथा सब दु खो का क्षय करनेवाला अमृततुल्य औषध है।

१९ अरहंतभासियत्थं, गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं ।
पणमामि भत्तिजुत्तो, सुदणाणमहोदहिं सिरसा ॥३॥
अर्हद्भाषितार्थं, गणधरदेवैः ग्रथितं सम्यक् ।
प्रणमामि भक्तियुक्तः, श्रुतज्ञानमहोदधिं शिरसा ॥३॥

२० तस्स मुहुग्गदवयणं, पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं ।
आगममिदि परिकहियं, तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था ॥४॥
तस्य मुखोद्गतवचनं, पूर्वापरदोषविरहितं शुद्धम् ।
'आगम' इति परिकथितं, तेन तु कथिता भवन्ति तथ्यार्थाः ॥४॥

२१ जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयणं जे करेंति भावेण ।
अमला असंकिलिट्ठा, ते होंति परित्तसंसारी ॥५॥
जिनवचनेऽनुरक्ताः, जिनवचनं ये कुर्वन्ति भावेन ।
अमला असंक्लिष्टाः, ते भवन्ति परीतसंसारिणः ॥५॥

२२ जय वीयराय ! जयगुरु ! होउ मम तुह पभावओ भयवं !
भवणिव्वेओ मग्गाणुसारिया इट्ठफलसिद्धी ॥६॥
जय वीतराग ! जगद्गुरो ! भवतु मम तव प्रभावतो भगवन् !
भवनिर्वेदः मार्गानुसारिता इष्टफलसिद्धिः ॥६॥

२३ ससमय-परसमयविऊ, गंभीरो दित्तिमं सिवो सोमो ।
गुणसयकलिओ जुत्तो, पवयणसारं परिकहेउं ॥७॥
स्वसमय-परसमयवित्, गम्भीरः दीप्तिमान् शिवः सोमः ।
गुणशतकलितः युक्तः, प्रवचनसारं परिकथयितुम् ॥७॥

२४ जं इच्छसि अप्पणतो, जं च ण इच्छसि अप्पणतो ।
तं इच्छ परस्स वि या, एत्तियगं जिणसासणं ॥८॥
यदिच्छसि आत्मतः, यच्च नेच्छसि आत्मतः ।
तदिच्छ परस्यापि च, एतावत्कं जिनशासनम् ॥८॥

१९ जो अर्हत् के द्वारा अर्थरूप मे उपदिष्ट है तथा गणधरो के द्वारा सूत्ररूप में सम्यक् गुम्फित है, उस श्रुतज्ञानरूपी महासिन्धु को मै भक्तिपूर्वक सिर नवाकर प्रणाम करता हूँ।

२० अर्हत् के मुख से उद्‌भूत, पूर्वापरदोष-रहित शुद्ध वचनो को आगम कहते ह। उस आगम में जो कहा गया है वही सत्यार्थ है। (अर्हत् द्वारा उपदिष्ट तथा गणधर द्वारा सकलित श्रुत आगम है।)

२१ जो जिनवचन मे अनुरक्त ह तथा जिनवचना का भावपूर्वक आचरण करते हैं, वे निर्मल और असक्लिष्ट होकर परीत-ससारी (अल्प जन्म-मरणवाले) हो जाते हैं।

२२ हे वीतराग!, हे जगद्‌गुरु!, हे भगवन्! आपके प्रभाव से मुझे ससार से विरक्ति, मोक्षमार्ग का अनुसरण तथा इष्टफल की प्राप्ति होती रहे।

२३ जो स्वसमय व परसमय का ज्ञाता है, गम्भीर, दीप्तिमान, कल्याणकारी और सौम्य है तथा सैकडो गुणो से युक्त है, वही निर्ग्रन्थ प्रवचन के सार को कहने का अधिकारी है।

२४ जो तुम अपने लिए चाहते हो वही दूसरो के लिए भी चाहो तथा जो तुम अपने लिए नही चाहते वह दूसरो के लिए भी न चाहो। यही जिनशासन है—तीर्थंकर का उपदेश है।

३ संघसूत्र

२५ संघो गुणसंघाओ, संघो य विमोचओ य कम्माणं।
दंसणणाणचरित्ते, संघायंतो हवे संघो ॥१॥
संघो गुणसंघातः, संघश्च विमोचकश्च कर्मणाम्।
दर्शनज्ञानचरित्राणि, संघातयन् भवेत् संघः ॥१॥

२६ रयणत्तयमेव गणं, गच्छं गमणस्स मोक्खमग्गस्स।
संघो गुण संघादो, समयो खलु णिम्मलो अप्पा ॥२॥
रत्नत्रयमेव गणं गच्छं गमनस्य मोक्षमार्गस्य।
संघो गुणसंघातः, समयः खलु निर्मल आत्मा ॥२॥

२७ आसासो वीसासो, सीयघरसमो य होइ मा भाहि।
अम्मापितिसमाणो, संघो सरणं तु सव्वेसिं ॥३॥
आश्वासः विश्वासः, शीतगृहसमश्च भवति मा भैषीः।
अम्बापितृसमानः, संघः शरणं तु सर्वेषाम् ॥३॥

२८ नाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्ते य।
धन्ना गुरुकुलवासं, आवकहाए न मुंचंति ॥४॥
ज्ञानस्य भवति भागी, स्थिरतरकः दर्शने चरित्रे च।
धन्या गुरुकुलवासं, यावत्कथया न मुञ्चन्ति ॥४॥

२९ जस्स गुरुम्मि न भत्ती, न य बहुमाणो न गउरवं न भयं।
न वि लज्जा न वि नेहो, गुरुकुलवासेण किं तस्स? ॥५॥
यस्य गुरौ न भक्तिः, न च बहुमानः न गौरवं न भयम्।
नापि लज्जा नापि स्नेहः, गुरुकुलवासेन किं तस्य? ॥५॥

३०-३१ कम्मरयजलोहविणिग्गयस्स, सुयरयणदीहनालस्स।
पंचमहव्वयथिरकण्णियस्स, गुणकेसरालस्स ॥६॥
सावगजणमहुयरपरिवुडस्स, जिणसूरतेयबुद्धस्स।
संघपउमस्स भद्दं, समणगणसहस्सपत्तस्स ॥७॥
कर्मरजजलौघविनिर्गतस्य, श्रुतरत्नदीर्घनालस्य।
पञ्चमहाव्रतस्थिरकर्णिकस्य, गुणकेसरवतः ॥६॥
श्रावकजनमधुकरपरिवृतस्य, जिनसूर्यतेजोबुद्धस्य।
संघपद्मस्य भद्रं, श्रमणगणसहस्रपत्रस्य ॥७॥

३ सघसूत्र

२५ गुणो का समूह सघ है। सघ कर्मो का विमोचन करनेवाला है। जो दशन, ज्ञान और चारित्र का सघात (रत्नत्रय की समन्विति) करता है, वह सघ है।

२६ रत्नत्रय ही 'गण' है। मोक्षमाग में गमन ही 'गच्छ' है। गण का समूह ही 'सघ' है तथा निमल आत्मा ही समय है।

२७ सघ भयभीत व्यक्तियों के लिए आश्वासन, निश्छल व्यवहार के कारण विश्वासभूत, सवत्र समता के कारण शीतगृहतुल्य, अविपमदर्शी होने के कारण माता-पितातुल्य तथा सव प्राणियों के लिए शरणभत होता है, इसलिए तुम सघ से मत डरो।

२८ सघस्थित साधु ज्ञान का भागी (अधिकारी) होता है, दशन व चारित्र में विशेषरूप से स्थिर होता है। वे धन्य है जो जीवन-पयन्त गुरुकुलवास नही छोडते।

२९ जिसमें गुरु के प्रति न भक्ति है न वहुमान है, न गौरव है, न भय (अनुशासन) है, न लज्जा है तथा न स्नेह है, उसका गुरुकुलवास में रहने का क्या अथ है?

३०-३१ सघ कमलवत् है। (क्योकि) सघ कर्मरजरूपी जलराशि से कमल की तरह ही ऊपर तथा अलिप्त रहता है। श्रुतरत्न (ज्ञान या आगम) ही उसकी दीर्घनाल है। पच महाव्रत ही उसकी स्थिर कर्णिका है तथा उत्तरगुण ही उसकी मध्यवर्ती केसर है। जिसे श्रावकजनरूपी भ्रमर सदा घेरे रहते है, जो जिनेश्वरदेवरूपी सूय के तेज से प्रबुद्ध होता है तथा जिसके श्रमणगणरूपी सहस्रपत्र है, उस सघरूपी कमल का कल्याण हो।

४ निरूपणसूत्र

३२ जो ण पमाणणयेहिं, णिक्खेवेण णिरिक्खदे अत्थं ।
तस्साजुत्तं जुत्तं, जुत्तमजुत्तं च पडिहादि ॥१॥
यो न प्रमाण-नयाभ्याम्, निक्षेपेण निरीक्षते अर्थम् ।
तस्यायुक्तं युक्तं युक्तमयुक्तं च प्रतिभाति ॥१॥

३३ णाणं होदि पमाणं, णओ वि णादुस्स हिदयभावत्थो ।
णिक्खेओ वि उवाओ, जुत्तीए अत्थपडिगहणं ॥२॥
ज्ञानं भवति प्रमाणं, नयोऽपि ज्ञातुः हृदयभावार्थः ।
निक्षेपोऽपि उपायः, युक्त्या अर्थप्रतिग्रहणम् ॥२॥

३४ णिच्छयववहारणया, मूलभेया णयाण सव्वाणं ।
णिच्छयसाहणहेउं, पज्जयदव्वत्थियं मुणह ॥३॥
निश्चयव्यवहारनयौ, मूलभेदौ नयानां सर्वेषाम् ।
निश्चयसाधनहेतू, पर्यायद्रव्यार्थिकौ मन्यध्वम् ॥३॥

३५ जो सिय भेदुवयारं, धम्माणं कुणइ एगवत्थुस्स ।
सो ववहारो भणियो, विवरीओ णिच्छयो होइ ॥४॥
यः स्याद् भेदोपचारं, धर्माणां करोति एकवस्तुनः ।
स व्यवहारो भणितः, विपरीतो निश्चयो भवति ॥४॥

३६ ववहारेणुवदिस्सइ, णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं ।
ण वि णाणं ण चरित्तं, न दंसणं जाणगो सुद्धो ॥५॥
व्यवहारेणोपदिश्यते, ज्ञानिनश्चरित्रं दर्शनं ज्ञानम् ।
नापि ज्ञानं न चरित्रं, न दर्शनं ज्ञायकः शुद्धः ॥५॥

३७ एवं ववहारणओ, पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण ।
णिच्छयणयासिदा पुण, मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥६॥
एवं व्यवहारनयः, प्रतिषिद्धः जानीहि निश्चयनयेन ।
निश्चयनयाश्रिताः पुनः मुनयः प्राप्नुवन्ति निर्वाणम् ॥६॥

४ निरूपणसूत्र

३२ जो प्रमाण, नय और निक्षेप के द्वारा अर्थ का बोध नही करता, उसे अयुक्त युक्त तथा युक्त अयुक्त प्रतीत होता है।

३३ ज्ञान प्रमाण है। ज्ञाता का हृदयगत अभिप्राय नय है। जानने के उपायो को निक्षेप कहते है। इस तरह युक्तिपूर्वक अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

३४ निश्चय और व्यवहार—ये दो नय ही समस्त नयो के मूल हैं तथा द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नय निश्चय के साधन मे हेतु है।

३५ जो एक अखण्ड वस्तु के विविध धर्मों म कथचित् (किसी अपेक्षा) भेद का उपचार करता है वह व्यवहारनय है। जो ऐसा नही करता अर्थात् अखण्ड पदार्थ का अनुभव अखण्ड रूप से करता है, वह निश्चय नय है।

३६ व्यवहारनय से यह कहा जाता है कि ज्ञानी के चारित्र होता है, दर्शन होता है और ज्ञान होता है। किन्तु निश्चयनय से उसके न ज्ञान है, न चारित्र है और न दर्शन है। ज्ञानी तो शुद्ध ज्ञायक है।

३७ इस प्रकार आत्माश्रित निश्चयनय के द्वारा पराश्रित व्यवहार-नय का प्रतिषेध किया जाता है। निश्चयनय का आश्रय लेनेवाले मुनिजन ही निर्वाण प्राप्त करते हैं।

३८ जह ण वि सक्कमणज्जो, अणज्जभासं विणा उ गाहेउं ।
तह ववहारेण विणा, परमत्थुवएसणमसक्कं ॥७॥
यथा नापि शक्योऽनार्योऽनार्यभाषां विना तु ग्राहयितुम् ।
तथा व्यवहारेण विना, परमार्थोपदेशनमशक्यम् ॥७॥

३९ ववहारोऽभूयत्थो, भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भूयत्थमस्सिदो खलु, सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥८॥
व्यवहारोऽभूतार्थो, भूतार्थो दर्शितस्तु शुद्धनयः ।
भूतार्थमाश्रितः खलु सम्यग्दृष्टिर्भवति जीवः ॥८॥

४० निच्छयमवलंवंता, निच्छयतो निच्छयं अजाणंता ।
नासंति चरणकरणं, बाहिरकरणालसा केई ॥९॥
निश्चयमवलम्बमानाः, निश्चयतः निश्चयम् अजानन्तः ।
नाशयन्ति चरणकरणम्, बाह्यकरणालसाः केचित् ॥९॥

४१ सुद्धो सुद्धादेसो, णायव्वो परमभावदरिसीहिं ।
ववहारदेसिदा पुण, जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ॥१०॥
शुद्धः शुद्धादेशो, ज्ञातव्यः परमभावदर्शिभिः ।
व्यवहारदेशिताः पुनर्ये त्वपरमे स्थिता भावे ॥१०॥

४२ निच्छयओ दुण्णेयं, को भावे कम्मि वट्टई समणो ।
ववहारओ य कीरइ, जो पुव्वठिओ चरित्तम्मि ॥११॥
निश्चयतः दुर्ज्ञेयं, कः भावे कस्मिन् वर्तते श्रमणः ? ।
व्यवहारतस्तु क्रियते, यः पूर्वस्थितश्चारित्रे ॥११॥

४३ तम्हा सव्वे वि णया, मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा ।
अन्नोन्नणिस्सिया उण, हवंति सम्मत्तसब्भावा ॥१२॥
तस्मात् सर्वेऽपि नयाः, मिथ्यादृष्टयः स्वपक्षप्रतिबद्धाः ।
अन्योन्यनिश्रिताः पुनः, भवन्ति सम्यक्त्वसद्भावाः ॥१२॥

४४ कज्जं णाणादीयं, उस्सग्गाववायओ भवे सच्चं ।
तं तह समायरंतो, तं सफलं होइ सव्वं पि ॥१३॥
कार्यं ज्ञानादिकं, उत्सर्गापवादतः भवेत् सत्यम् ।
तत् तथा समाचरन्, तत् सफलं भवति सर्वमपि ॥१३॥

३८ (किन्तु) जैसे अनार्य पुरुष को अनार्य भाषा के विना समझाना सम्भव नही है, वैसे ही व्यवहार के विना परमार्थ का उपदेश करना सम्भव नही है।

३९ व्यवहार अभूतार्थ (असत्यार्थ) है और निश्चय भूतार्थ (सत्यार्थ) है। भूतार्थ का आश्रय लेनेवाला जीव ही सम्यग्-दृष्टि होता है।

४० निश्चय का अवलम्बन करनेवाले कुछ जीव निश्चय को निश्चय मे न जानने के कारण बाह्य आचरण में आलसी या स्वच्छन्द होकर चरण-करण (आचार-क्रिया) का नाश कर देते है।

४१ (ऐसे लोगो के लिए आचार्य कहते है कि-) परमभाव के द्रष्टा जीवो के द्वारा शुद्ध वस्तु का कथन करनेवाला शुद्धनय (निश्चय-नय) ही ज्ञातव्य है। किन्तु अपरमभाव में स्थित जनो का व्यवहारनय के द्वारा ही उपदेश करना उचित है।

४२ निश्चय ही यह जानना कठिन है कि कौन श्रमण किस भाव मे स्थित है। अत जो पूर्व-चारित्र में स्थित है, उनका कृतिकर्म (वन्दना) व्यवहारनय के द्वारा चलता है।

४३ अत (समझना चाहिए कि) अपने-अपने पक्ष का आग्रह रखने-वाले सभी नय मिथ्या है और परस्पर सापेक्ष होने पर वे ही सम्यक्भाव को प्राप्त हो जाते है।

४४ ज्ञान आदि कार्य उत्सर्ग (सामान्य विधि) एव अपवाद (विशेष विधि) से सत्य होते है। वे इस तरह किये जायें कि सब कुछ सफल हो।

५ ससारचक्रसूत्र

४५ अधुवे असासयम्मि, ससारम्मि दुक्खपउराए ।
किं नाम होज्ज त कम्मय, जेणाऽहं दुग्गइं न गच्छेज्जा ? ॥१॥
अध्रुवेऽशाश्वते, ससारे दुःखप्रचुरके ।
किं नाम भवेत् तत् कर्मक, येनाहं दुर्गति न गच्छेयम् ॥१॥

४६ खणमित्तसुक्खा बहुकालदुक्खा, पगामदुक्खा अणिगामसुक्खा ।
ससारमोक्खस्स विपक्खभूया, खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥२॥
क्षणमात्रसौख्या बहुकालदुःखा, प्रकामदुःखा अनिकामसौख्या ।
ससारमोक्षस्य विपक्षभूता, खानिरनर्थाना तु कामभोगा ॥२॥

४७ सुट्ठु वि मग्गिज्जतो, कत्थ वि केलीइ नत्थि जह सारो ।
इदिअविसएसु तहा, नत्थि सुह सुट्ठु वि गविट्ठ ॥३॥
सुष्ठ्वपि मार्ग्यमाण, कुत्रापि कदल्या नास्ति यथा सार ।
इन्द्रियविषयेषु तथा, नास्ति सुख सुष्ठ्वपि गवेषितम् ॥३॥

४८ नरविबुहेसरसुक्ख, दुक्ख परमत्थओ तय बिंति ।
परिणामदारुणमसासय च ज ता अल तेण ॥४॥
नरविबुधेश्वरसौख्य, दुःख परमार्थतस्तद् ब्रुवते ।
परिणामदारुणमशाश्वत, च यत् तस्मात् अल तेन ॥४॥

४९ जह कच्छुल्लो कच्छु, कडयमाणो दुह मुणइ सुक्ख ।
मोहाउरा मणुस्सा, तह कामदुह सुह बिंति ॥५॥
यथा कच्छुर कच्छु, कण्डूयन् दुःख मनुते सौख्यम् ।
मोहातुरा मनुष्या, तथा कामदुःख सुख ब्रुवन्ति ॥५॥

५० भोगामिसदोसविसन्ने, हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे ।
बाले य मदिए मूढे, बज्झई मच्छिया व खेलम्मि ॥६॥
भोगामिषदोषविषण्ण, हितनि श्रेयसबुद्धिविपर्यस्त ।
बालश्च मन्दित मूढ, बध्यते मक्षिकेव श्लेष्मणि ॥६॥

५ ससारचक्रसूत्र

४५ अध्रुव, अशाश्वत और दु ख-बहुल ससार मे ऐसा कौन सा कर्म है, जिससे मै दुर्गति मे न जाऊँ।

४६ ये काम-भोग क्षणभर सुख और चिरकाल तक दु ख देनेवाले है, बहुत दु ख और थोडा सुख देनेवाले है, ससार मुक्ति के विरोधी और अनर्थो की खान है।

४७ बहुत खोजने पर भी जैसे केले के पेड में कोई सार दिखाई नही देता, वैसे ही इ द्रिय-विषयो मे भी कोई सुख दिखाई नही देता।

४८ नरेन्द्र-सुरेन्द्रादि का सुख परमार्थत दु ख ही है। वह है तो क्षणिक, किन्तु उसका परिणाम दारुण होता है। अत उससे दूर रहना ही उचित है।

४९ खुजली का रोगी जैसे खुजलाने पर दु ख को भी सुख मानता है, वैसे ही मोहातुर मनुष्य कामजन्य दु ख को सुख मानता है।

५० आत्मा को दूषित करनेवाले भोगामिष (आसक्ति-जनक भोग) में निमग्न, हित और श्रेयस् में विपरीत बुद्धिवाला, अज्ञानी, मन्द और मूढ जीव उसी तरह (कर्मो से) बंध जाता है, जैसे श्लेष्म में मक्खी।

५१ जाणिज्जइ चिन्तिज्जइ, जम्मजरामरणसभव दुक्ख ।
न य विसएसु विरज्जई, अहो सुबद्धो कवडगठी ।।७।।
जानाति चिन्तयति, ज मजरामरणसम्भव दु खम् ।
न च विषयेषु विरज्यते, अहो! सुवद्ध कपटग्रन्थि ।।७।।

५२ ५४ जो खलु ससारत्थो, जीवो तत्तो दु होदि परिणामो ।
परिणामादो कम्म, कम्मादो होदि गदिसु गदी ।।८।।
गदिमधिगदस्स देहो, देहादो इदियाणि जायते ।
तेहिं दु विसयग्गहण, तत्तो रागो वा दोसो वा ।।९।।
जायदि जीवस्सेव, भावो ससारचक्कवालम्मि ।
इदि जिणवरेहिं भणिदो, अणादिणिधणो सणिधणो वा ।।१०।।

य खलु ससारस्थो, जीवस्ततस्तु भवति परिणाम ।
परिणामात् कर्म, कर्मत भवति गतिषु गति ।।८।।
गतिमधिगतस्य देहो, देहादिन्द्रियाणि जायन्ते ।
तैस्तु विषयग्रहण, ततो रागो वा द्वेषो वा ।।९।।
जायते जीवस्यैव, भाव ससारचक्रवाले ।
इति जिनवरैर्भणितो-ऽनादिनिधन सनिधनो वा ।।१०।।

५५ जम्म दुक्ख जरा दुक्ख, रोगा य मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु ससारो, जत्थ कीसन्ति जतवो ।।११।।
जन्म दु ख, जरा दुक्ख रोगाश्च मरणानि च ।
अहो दु ख खलु ससार, यत्र क्लिश्यन्ति जन्तव ।।११।।

६ कर्मसूत्र

५६ जो जेण पगारेण, भावो णियओ तमन्नहा जो तु ।
मन्नति करेति वदति व, विप्परियासो भवे एसो ।।१।।
यो येन प्रकारेण, भाव नियत तम् अन्यथा यस्तु ।
मन्यते करोति वदति वा, विपर्यासो भवेद् एष ।।१।।

५१ जीव ज म, जरा और मरण से होनेवाले दु ख को जानता है, उसका विचार भी करता है, किन्तु विषयो से विरक्त नही हो पाता । अहो। माया (दम्भ) की गाँठ कितनी सुदृढ होती है।

५२–५४ ससारी जीव के (राग-द्वेषरूप) परिणाम होते हैं । परिणामो से कर्म-बध होता है । कर्म-बध के कारण जीव चार गतिया में गमन करता है—जन्म लेता है । जन्म से शरीर और शरीर से इद्रिया प्राप्त होती ह । उनसे जीव विषयो का ग्रहण (सेवन) करता है । उससे फिर राग-द्वेष पैदा होता है । इस प्रकार जीव ससारचक्र मे परिभ्रमण करता है । उसके परिभ्रमण का हेतुभूत परिणाम (सम्यग्दृष्टि उपलब्ध न होने पर) अनादि-अनन्त और (सम्यग्दृष्टि के उपलब्ध होने पर) अनादि सान्त होता है ।

५५ जन्म दु ख है, बुढापा दु ख है, रोग दु ख है और मृत्यु दु ख है। अहो ! ससार दु ख ही है, जिसमें जीव क्लेश पा रहे हैं ।

६ कर्मसूत्र

५६ जो भाव जिस प्रकार से नियत है, उसे अ य रूप से मानना, कहना या करना विपर्यास या विपरीत बुद्धि है ।

५७ ज ज समय जीवो आविसइ जेण जेण भावेण ।
सो तमि तमि समए, सुहासुह बधए कम्म ॥२॥
य य समय जीव, आविशति येन येन भावेन ।
स तस्मिन् समये, शुभाशुभ वध्नाति कर्म ॥२॥

५८ कायसा वयसा मत्ते, वित्ते गिद्धे य इत्यिसु ।
दुहओ मल सचिणइ, सिसुणागु व्व मट्टिय ॥३॥
कायेन वचसा मत्त, वित्ते गृद्धश्च स्त्रीपु ।
द्विधा मल सचिनोति, शिशुनाग इव मृत्तिकाम् ॥३॥

५९ न तस्स दुक्ख विभयन्ति नाइओ, न मित्तवग्गा न सुया न बधवा ।
एक्को सय पच्चणुहोइ दुक्ख, कत्तारमेव अणुजाइ कम्म ॥४॥
न तस्य विभजन्ते ज्ञातय, न मित्रवर्गा न सुता न बान्धवा ।
एक स्वय प्रत्यनुभवति दुख, कर्तारमेवानुयाति कर्म ॥४॥

६० कम्म चिणति सवसा, तस्सुदयम्मि उ परव्वसा होंति ।
रुक्ख दुरुहइ सवसो, विगलइ स परव्वसो तत्तो ॥५॥
कर्म चिन्वन्ति स्ववशा, तस्योदये तु परवशा भवन्ति ।
वृक्षमारोहति स्ववश, विगलति स परवश तत ॥५॥

६१ कम्मवसा खलु जीवा, जीववसाइ कहिंचि कम्माइ ।
कत्थइ धणिओ बलव, धारणिओ कत्थई बलव ॥६॥
कर्मवशा खलु जीवा, जीववशानि कुत्रचित् कर्माणि ।
कुत्रचित् धनिक बलवान्, धारणिक कुत्रचित् बलवान् ॥६॥

६२ कम्मत्तणेण एक्क, दव्व भावो त्ति होदि दुविह तु ।
पोग्गलपिंडो दव्व, तस्सत्ती भावकम्म तु ॥७॥
कर्मत्वेन एक, द्रव्य भाव इति भवति द्विविध तु ।
पुद्गलपिण्डो द्रव्य, तच्छक्ति भावकर्म तु ॥७॥

६३ जो इदियादिविजई, भवीय उवओगमप्पग झादि ।
कम्मेहिं सो ण रजदि, किह त पाणा अणुचरति ॥८॥
य इन्द्रियादिविजयी, भूत्वोपयोगमात्मक ध्यायति ।
कर्मभि स न रज्यते, कस्मात् त प्राणा अनुचरन्ति ॥८॥

५७ जिस समय जीव जैसे भाव करता है, वह उस समय वैसे ही शुभ-अशुभ कर्मों का बंध करता है ।

५८ (प्रमत्त मनुष्य) शरीर और वाणी से मत्त होता है तथा धन और स्त्रियों में गृद्ध होता है । वह राग और द्वेष—दोनों से उसी प्रकार कर्म-मल का संचय करता है, जैसे शिशुनाग (अलस या केंचुआ) मुख और शरीर—दोनों से मिट्टी का संचय करता है ।

५९ ज्ञाति, मित्र-वर्ग, पुत्र और बांधव उसका दुःख नहीं बँटा सकते । वह स्वयं अकेला दुःख का अनुभव करता है । क्योंकि कर्म कर्त्ता का अनुगमन करता है ।

६० जीव कर्मों का बंध करने में स्वतंत्र है, परन्तु उस कर्म का उदय होने पर भोगने में उसके अधीन हो जाता है । जैसे कोई पुरुष स्वेच्छा से वृक्ष पर तो चढ जाता है, किन्तु प्रमाद-वश नीचे गिरते समय परवश हो जाता है ।

६१ कहीं जीव कर्म के अधीन होते हैं तो कहीं कर्म जीव के अधीन होते हैं । जैसे कहीं (ऋण देते समय तो) धनी बलवान् होता है तो कहीं (ऋण लौटाते समय) कर्जदार बलवान् होता है ।

६२ सामान्य की अपेक्षा कर्म एक है और द्रव्य तथा भाव की अपेक्षा दो (प्रकार का) है । कर्म-पुद्गलों का पिण्ड द्रव्यकर्म है और उसमें रहनेवाली शक्ति या उनके निमित्त से जीव में होनेवाले राग द्वेषरूप विकार भावकर्म है ।

६३ जो इन्द्रिय आदि पर विजय प्राप्त कर उपयोगमय (ज्ञानदर्शन-मय) आत्मा का ध्यान करता है, वह कर्मों से नहीं बँधता । अतः पौद्गलिक प्राण उसका अनुसरण कैसे कर सकते हैं ? (अर्थात् उसे नया जन्म धारण नहीं करना पडता ।)

६४ ६५ नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा।
वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य ॥९॥
नामकम्मं च गोयं च, अंतरायं तहेव य।
एवमेयाइं कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ ॥१०॥
ज्ञानस्यावरणीयं, दर्शनावरणं तथा।
वेदनीयं तथा मोहम्, आयुःकर्म तथैव च ॥९॥
नामकर्म च गोत्रं च, अन्तरायं तथैव च।
एवमेतानि कर्माणि, अष्टैव तु समासतः ॥१०॥

६६ पड-पडिहार-सि-मज्ज, हड चित्त-कुलाल-भंडगारीणं।
जह एएसिं भावा, कम्माण वि जाण तह भावा ॥११॥*
पट-प्रतिहारासि-मद्य, हडि-चित्र-कुलाल-भाण्डागारिणाम्।
यथा एतेषां भावाः कर्मणाम् अपि जानीहि तथा भावान् ॥११॥

७ मिथ्यात्वसूत्र

६७ हा! जह मोहियमइणा, सुग्गइमग्गं अजाणमाणेणं।
भीमे भवकंतारे, सुचिरं भमियं भयकरम्मि ॥१॥
हा! यथा मोहितमतिना, सुगतिमार्गमजानता।
भीमे भवकान्तारे, सुचिरं भ्रान्तं भयंकरे ॥१॥

६८ मिच्छत्तं वेदंतो जीवो, विवरीयदंसणो होइ।
ण य धम्मं रोचेदि हु, महुरं पि रसं जहा जरिदो ॥२॥
मिथ्यात्वं वेदयन् जीवो, विपरीतदर्शनो भवति।
न च धर्मं रोचते हि मधुरं रसं यथा ज्वरितः ॥२॥

---

* स्पष्टीकरण : १ जैसे परदा कमरे के भीतर की वस्तु का ज्ञान नहीं होने देता वैसे ही ज्ञानावरण-कर्म ज्ञान को रोकने या अल्पाधिक करने में निमित्त है। इसके उदय की हीनाधिकता के कारण कोई विशिष्टज्ञानी और कोई अल्पज्ञानी होता है। २ जैसे द्वारपाल दर्शनार्थियों को राजदर्शन आदि से रोकता है वैसे ही दर्शन का आवरण करनेवाला दर्शनावरण-कर्म है। ३ जैसे तलवार की धार पर लगा मधु चाटने में मधुर स्वाद अवश्य आता है फिर भी जीभ के कट जाने का असह्य दुःख भी होता है वैसे ही वेदनीय कर्म सुख-दुःख का निमित्त है। ४ जैसे मद्यपान से मनुष्य मदहोश हो जाता है—सुध-बुध खो बैठता है, वैसे ही मोहनीय कर्म के उदय से विमूढ़ जीव →

६४-६५ ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय—ये संक्षेप में आठ कर्म हैं।

६६ इन कर्मों का स्वभाव परदा, द्वारपाल, तलवार, मद्य, हलि, चित्रकार, कुम्भकार तथा भण्डारी के स्वभाव की तरह है।

७ मिथ्यात्वसूत्र

६७ हा ! खेद है कि सुगति का मार्ग न जानने के कारण मैं मूढमति भयानक तथा घोर भव-वन में चिरकाल तक भ्रमण करता रहा।

६८ जो जीव मिथ्यात्व से ग्रस्त होता है उसकी दृष्टि विपरीत हो जाती है। उसे धर्म भी रुचिकर नहीं लगता, जैसे ज्वरग्रस्त मनुष्य को मीठा रस भी अच्छा नहीं लगता।

अपने स्वरूप को भूल जाता है। ५ जैसे हलि (काठ) में पाँव फँसा देने पर मनुष्य रुका रह जाता है वैसे ही आयु-कर्म के उदय से जीव शरीर में निश्चित समय तक रुका रहता है। ६ जैसे चित्रकार नाना प्रकार के चित्र बनाता है वैसे ही नाम-कर्म के उदय से जीवों के नानाविध देहों की रचना होती है। ७ जैसे कुम्भकार छोटे-बड़े बर्तन बनाता है, वैसे ही गोत्र-कर्म के उदय से जीव को उच्चकुल या नीचकुल मिलता है। ८ जैसे भण्डारी (खजाञ्ची) दाता को देने से और याचक को लेने से रोकता है, वैसे ही अन्तराय-कर्म के उदय से दान-लाभ आदि में बाधा पड़ती है। इस तरह ये आठों कर्मों के स्वभाव हैं।

६९ मिच्छत्तपरिणदप्पा, तिव्वकसाएण सुट्ठु आविट्ठो ।
जीव देह एक्क, मण्णतो होदि बहिरप्पा ।।३।।
मिथ्यात्वपरिणतात्मा, तीव्रकपायेण सुष्ठु आविष्ट ।
जीव देहमेक, मन्यमान भवति वहिरात्मा ।।३।।

७० जो जहवाय न कुणई, मिच्छादिट्ठी तओ हु को अन्ना ।
वड्ढइ य मिच्छत्त, परस्स सक जणेमाणो ।।४।।
यो यथावाद न करोति, मिथ्यादृष्टि तत खलु क अन्य ।
वर्धते च मिथ्यात्व, परस्य शका जनयमान ।।४।।

८ राग-परिहारसूत्र

७१ रागो य दोसो वि य कम्मवीय, कम्म च मोहप्पभव वयति ।
कम्म च जाईमरणस्स मूल, दुक्ख च जाईमरण वयति ।।१।।
रागश्च द्वेषो पि च कर्मबीज, कर्म च मोहप्रभव वदन्ति ।
कर्म च जातिमरणस्य मूलम्, दुख च जातिमरण वदन्ति ।।१।।

७२ न वि त कुणइ अमित्तो, सुट्ठु वि य विराहिओ समत्थो वि ।
ज दो वि अनिग्गहिया, करति रागो य दोसो य ।।२।।
नैव तत करोति अमित्र सुष्ठ्वपि च विराद्ध समर्थोऽपि ।
यद् द्वावपि अनिगृहीतौ, कुरुतो रागश्च द्वेषश्च ।।२।।

७३ न य ससारम्मि सुह, जाइजरामरणदुक्खगहियस्स ।
जीवस्स अत्थि जम्हा, तम्हा मुक्खो उवादेओ ।।३।।
न च ससारे सुख, जातिजरामरणदु खगृहीतस्य ।
जीवस्यास्ति यस्मात्, तस्माद् मोक्ष उपादेय ।।३।।

७४ त जइ इच्छसि गतु, तीर भवसायरस्स घोरस्स ।
तो तवसजमभड, सुविहिय[1] गिण्हाहि तूरतो ।।४।।
तद् यदीच्छसि गतु, तीर भवसागरस्य घोरस्य ।
तर्हि तप सयमभाण्ड, सुविहित[1] गृहाण त्वरमाण ।।४।।

६९ मिथ्यादृष्टि जीव तीव्र कपाय से पूरी तरह आविष्ट होकर जीव और शरीर को एक मानता है । वह वहिरात्मा है ।

७० जो तत्त्व-विचार के अनुसार नही चलता, उससे वडा मिथ्यादृष्टि और दूसरा कौन हो सकता है ? वह दूसरो को शकाशील वनाकर अपने मिथ्यात्व को वढाता रहता है ।

८ राग-परिहारसूत्र

७१ राग और द्वेष कम के वीज (मूल कारण) ह । कम मोह मे उत्पन्न होता है । वह ज म-मरण का मूल है । ज म-मरण को दु ख का मूल कहा गया है ।

७२ अत्यन्त तिरस्कृत समय शत्रु भी उतनी हानि नही पहुँचाता, जितनी हानि अनिगृहीत राग और द्वेष पहुँचाते ह ।

७३ इस ससार में ज म, जरा और मरण के दु ख मे ग्रस्त जीव को कोई सुख नही है । अत मोक्ष ही उपादेय है ।

७४ यदि तू घोर भवसागर के पार (तट पर) जाना चाहता है तो हे सुविहित ! शीघ्र ही तप सयमरूपी नौका को ग्रहण कर ।

७५ बहुभयंकरदोसाण, सम्मत्तचरित्तगुणविणासाण ।
न हु वसमागतव्व, रागद्दोसाण पावाण ॥५॥
बहुभयकरदोषयो , सम्यक्त्वचारित्रगुणविनाशयो ।
न खलु वशमागन्तव्य, रागद्वेषयो पापयो ॥५॥

७६ कामाणुगिद्धिप्पभव खु दुक्ख, सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ।
ज काइय माणसिय च किंचि, तस्सतग गच्छइ वीयरागो ॥६॥
कामानुगृद्धिप्रभव खलु दु ख, सवस्य लोकस्य सदेवकस्य ।
यत् कायिक मानसिक च किञ्चित तस्यान्तक गच्छति वीतराग ।

७७ जेण विरागो जायइ, त त सव्वायरेण करणिज्ज ।
मुच्चइ हु ससवेगी, अणतवो होइ असवेगी ॥७॥
येन विरागो जायते, तत्तत् सर्वादरेण करणीयम् ।
मुच्यते एव ससवेग , अनन्तक भवति असवेगा ॥७॥

७८ एव ससकप्पविकप्पणासु, सजायई समयमुवट्ठियस्स ।
अत्थे य सकप्पयओ तओ से, पहीयए कामगुणेसु तण्हा ॥८॥
एव स्वसकल्पविकल्पनासु, सजायते समतोपस्थितस्य ।
अर्थाश्च सकल्पयतस्तस्य, प्रहीयते कामगुणेषु तृष्णा ॥८॥

७९ अन्न इम सरीर, अन्नो जीवु त्ति निच्छियमईओ ।
दुक्खपरीकेसकर, छिंद ममत्त सरीराओ ॥९॥
अन्यदिद शरीर अन्यो जीव इति निश्चयमतिक ।
दु खपरिक्लेशकर, छिन्धि ममत्व शरीरात् ॥९॥

८० कम्मासवदाराइ, निरुभियव्वाइ इदियाइ च ।
हतव्वा य कसाया, तिविह तिविहेण मुक्खत्थ ॥१०॥
कर्मास्रवद्वाराणि, निरोद्धव्यानीन्द्रियाणि च ।
हन्तव्याश्च कषायास्त्रिविधत्रिविधेन मोक्षार्थम् ॥१०॥

८१ भावे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोहपरपरेण ।
न लिप्पई भवमज्झे वि सतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलास ॥११॥
भावे विरक्तो मनुजो विशोक , एतया दु खौघपरम्परया ।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन् , जलेनेव पुष्करिणीपलाशम् ॥११॥

७५ सम्यक्त्व तथा चारित्रादि गुणो के विनाशक, अत्यन्त भयकर राग-द्वेषरूपी पापो के वश मे नही होना चाहिए ।

७६ सब जीवो का, और क्या देवताओ का भी जो कुछ कायिक और मानसिक दु ख है, वह काम-भोगो की सतत अभिलाषा से उत्पन्न होता है । वीतरागी उस दु ख का अन्त पा जाता है ।

७७ जिससे विराग उत्पन्न होता है, उसका आदरपूर्वक आचरण करना चाहिए । विरक्त व्यक्ति ससार-बधन से छूट जाता है और आसक्त व्यक्ति का ससार अनन्त होता जाता है ।

७८ अपने राग-द्वेषात्मक सकल्प ही सब दोषो के मूल है—जो इस प्रकार के चिन्तन मे उद्यत होता है तथा इन्द्रिय-विषय दोषो के मूल नही है—इस प्रकार का सकल्प करता है, उसके मन में समता उत्पन्न होती है । उससे उसकी काम-गुणो में होनेवाली तृष्णा प्रक्षीण हो जाती है ।

७९ निश्चयदृष्टि के अनसार शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है । अत शरीर के प्रति होनेवाले दु खद व क्लेशकर ममत्व का छेदन करो ।

८० मोक्ष की प्राप्ति के लिए कम के आगमन-द्वारो—आस्रवा का तथा इन्द्रिया का तीन करण (मनसा, वाचा, कमणा) और तीन योग (कृत, कारित, अनुमति) से निरोध करो, और कषायो का अन्त करो ।

८१ भाव से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है । जैसे कमलिनी का पत्र जल में लिप्त नही होता, वैसे ही वह ससार में रहकर भी अनेक दु खा की परम्परा से लिप्त नही होता ।

९ धर्मसूत्र

८२ धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो ॥१॥
धर्म मङ्गलमुत्कृष्टं, अहिंसा संयम तपः।
देवा अपि तं नमस्यन्ति, यस्य धर्मे सदा मनः ॥१॥

८३ धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥२॥
धर्मः वस्तुस्वभावः क्षमादिभावः च दशविधः धर्मः।
रत्नत्रयं च धर्मः, जीवानां रक्षणं धर्मः ॥२॥

८४ उत्तमखममद्दवज्जव-सच्चसउच्चं च संजमं चेव।
तवचागमकिंचण्हं, बम्हं इदि दसविहो धम्मो ॥३॥
उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचं च संयमं चैव।
तपस्त्यागः आकिञ्चन्यं, ब्रह्म इति दशविधः धर्मः ॥३॥

८५ कोहेण जो ण तप्पदि, सुर णर तिरिएहिं कीरमाणे वि।
उवसग्गे वि रउद्दे, तस्स खमा णिम्मला होदि ॥४॥
क्रोधेन यः न तप्यते, सुरनरतिर्यग्भिः क्रियमाणेऽपि।
उपसर्गे अपि रौद्रे तस्य क्षमा निर्मला भवति ॥४॥

८६ खम्मामि सव्वजीवाणं, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूदेसु, वेरं मज्झ ण केण वि ॥५॥
क्षमे सर्वजीवान्, सर्वे जीवाः क्षमन्तां मम।
मैत्री मे सर्वभूतेषु, वैरं मम न केनापि ॥५॥

८७ जइ किंचि पमाएणं, न सुट्ठु भे वट्टियं मए पुव्विं।
तं मे खामेमि अहं, निस्सल्लो निक्कसाओ अ ॥६॥
यदि किञ्चित प्रमादेन, न सुष्ठु युष्माभिः सह वर्तितं मया पूर्वम्।
तद् युष्मान् क्षमयाम्यहं, निःशल्यः निष्कषायश्च ॥६॥

९ धर्मसूत्र

८२ धर्म उत्कृष्ट मगल है । अहिंसा, सयम और तप उसके लक्षण हैं। जिसका मन सदा धर्म में रमा रहता है, उसे देव भी नमस्कार करते है ।

८३ वस्तु का स्वभाव धर्म है । क्षमा आदि भावो की अपेक्षा से वह दस प्रकार का है । रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र) तथा जीवों की रक्षा करना धर्म है ।

८४ उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम सयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य तथा उत्तम ब्रह्मचर्य—ये दस धर्म हैं ।

८५ देव, मनुष्य और तिर्यञ्चो (पशुओ) के द्वारा घोर व भयानक उपसर्ग पहुँचाने पर भी जो क्रोध से तप्त नही होता, उसके निर्मल क्षमाधर्म होता है ।

८६ मै सब जीवो को क्षमा करता हूँ । सब जीव मुझे क्षमा करे । मेरा सब प्राणियो के प्रति मैत्रीभाव है । मेरा किसीसे भी वैर नहीं है ।

८७ अल्पतम प्रमादवश भी यदि मैने आपके प्रति उचित व्यवहार नही किया हो तो मै नि शल्य और कषायरहित होकर आपसे क्षमा-याचना करता हूँ ।

८८ कुलरूवजादिवुद्धिसु, तवसुदसीलेसु गारव किंचि ।
जो णवि कुव्वदि समणो, मद्दवधम्मं हवे तस्स ।।७।।
कुलरूपजातिबुद्धिषु, तप श्रुतशीलेषु गौरव किञ्चित् ।
य नैव करोति श्रमण, मार्दवधर्मो भवेत् तस्य ।।७।।

८९ जो अवमाणकरण, दोस परिहरइ णिच्चमाउत्तो ।
सो णाम होदि माणी, ण दु गुणचत्तेण माणेण ।।८।।
योऽपमानकरण, दोष परिहरति नित्यमायुक्त ।
सो नाम भवति मानी, न गुणत्यक्तेन मानेन ।।८।।

९० से असइ उच्चागोए असइ नीआगोए, नो हीणे नो अइरित्ते ।
नोऽपीहए इति सखाए, के गोयावाई के माणावाई ? ।।९।।
स असकृदुच्चैर्गोत्र असकृन्नीचैर्गोत्र, नो हीन नो अतिरिक्त ।
न स्पृहयेत् इति सख्याय, को गोत्रवादी को मानवादी ? ।।९।।

९१ जो चिंतेइ ण वक, ण कुणदि वक ण जपदे वक ।
ण य गोवदि णियदोस, अज्जव धम्मो हवे तस्स ।।१०।।
य चिन्तयति न वक्र, न करोति वक्र न जल्पति वक्रम् ।
न च गोपयति निजदोषम्, आर्जवधर्म भवेत् तस्य ।।१०।।

९२ परसतावयकारण-वयण, मोत्तूण सपरहिदवयण ।
जो वददि भिक्खु तुरियो, तस्स दु धम्मो हवे सच्च ।।११।।
परसतापककारण-वचन, मुक्त्वा स्वपरहितवचनम् ।
य वदति भिक्षु तुरीय, तस्य तु धर्म भवेत् सत्यम् ।।११।।

९३ मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओगकाले य दुही दुरते ।
एव अदत्ताणि समाययतो, रूवे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ।।१२।।
मृषावाक्यस्य पश्चाच्च पुरस्ताच्च, प्रयोगकाले च दु खी दुरन्त ।
एवमदत्तानि समाददान, रूपेऽतृप्तो दु खितोऽनिश्र ।।१२।।

९४ पत्थ हिदयाणिट्ठ पि, भण्णमाणस्स सगणवासिस्स ।
कडुग व ओसह त, महुरविवाय हवइ तस्स ।।१३।।
पथ्य हृदयानिष्टमपि, भण्यमानस्य स्वगणवासिन ।
कटुकमिवौषध तत्, मधुरविपाक भवति तस्य ।।१३।।

८८ जो श्रमण कुल, रूप, जाति, ज्ञान, तप, श्रुत और शील का तनिक भी गर्व नही करता, उसके मार्दवधर्म होता है ।

८९ जो दूसरे को अपमानित करने के दोष का सदा सावधानीपूर्वक परिहार करता है, वही यथार्थ मे मानी है। गुणशून्य अभिमान करने से कोई मानी नही होता ।

९० यह पुरुष अनेक वार उच्चगोत्र और अनेक वार नीचगोत्र का अनुभव कर चुका है। अत न कोई हीन है और न कोई अतिरिक्त, (इसलिए वह उच्च गोत्र की) स्पृहा न करे। [यह पुरुष अनेक वार उच्चगोत्र और नीचगोत्र का अनुभव कर चुका है—] यह जान लेने पर कौन गोत्रवादी होगा ? कौन मानवादी होगा ?

९१ जो कुटिल विचार नही करता, कुटिल कार्य नही करता, कुटिल वचन नही बोलता और अपने दोषो को नही छिपाता, उसके आर्जव-धर्म होता है ।

९२ जो भिक्षु (श्रमण) दूसरो को सताप पहुँचानेवाले वचनो का त्याग करके स्व-पर-हितकारी वचन बोलता है, उसके चौथा सत्यधर्म होता है ।

९३ असत्य भाषण के पश्चात् मनुष्य यह सोचकर दुखी होता है कि वह झूठ बोलकर भी सफल नही हो सका । असत्य भाषण से पूर्व इसलिए व्याकुल रहता है कि वह दूसरे को ठगने का सकल्प करता है । वह इसलिए भी दुखी रहता है कि कहीं कोई उसके असत्य को जान न ले । इस प्रकार असत्य-व्यवहार का अन्त दुखदायी ही होता है । इसी तरह विषयो मे अतृप्त होकर वह चोरी करता हुआ दुखी और आश्रयहीन हो जाता है ।

९४ अपने गणवासी (साथी) द्वारा कही हुई हितकर बात, भले ही वह मन को प्रिय न लगे, कटुक औषध की भाँति परिणाम मे मधुर ही होती है ।

१०२ विसयकसाय विणिग्गहभाव, काऊण झाणसज्झाए ।
जो भावइ अप्पाण, तस्स तव होदि णियमेण ॥२१॥
विषयकषाय-विनिग्रहभाव, कृत्वा ध्यानस्वाध्यायान् ।
य भावयति आत्मान, तस्य तप भवति नियमेन ॥२१॥

१०३ णिव्वेदतिय भावइ, मोह चइऊण सव्वदव्वेसु ।
जो तस्स हवे चागो, इदि भणिद जिणवरिंदेहिं ॥२२॥
निर्वेदत्रिक भावयति, मोह त्यक्त्वा सर्वद्रव्येषु ।
य तस्य भवति त्याग, इति भणित जिनवरेन्द्रै ॥२२॥

१०४ जे य कते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठिकुव्वइ ।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चई ॥२३॥
य च कान्तान् प्रियान् भोगान्, लब्धान् विपृष्ठीकरोति ।
स्वाधीनान् त्यजति भोगान, स हि त्यागी इति उच्यते ॥२३॥

१०५ होऊण य णिस्सगो, णियभाव णिग्गहित्तु सुहदुहद ।
णिद्दंदेण दु वट्टदि, अणयारो तस्साऽकिंचण्ण ॥२४॥
भूत्वा च निस्सग, निजभाव निगृह्य सुखदु खदम् ।
निर्द्वन्द्वेन तु वतते, अनगार तस्याऽकिञ्चन्यम् ॥२४॥

१०६ अहमिक्को खलु सुद्धो, दसणणाणमइओ सदाऽरूवी ।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि, अण्ण परमाणुमित्त पि ॥२५॥
अहमेक खलु शुद्धो, दर्शनज्ञानमय सदाऽरूपी ।
नाप्यस्ति मम किञ्चिदप्यन्यत परमाणुमात्रमपि ॥२५॥

१०७-१०८ सुह वसामो जीवामो, जेसि णो नत्थि किंचण ।
मिहिलाए डज्झमाणीए, न मे डज्झइ किंचण ॥२६॥
चत्तपुत्तकलत्तस्स, निव्वावारस्स भिक्खुणो ।
पिय न विज्जई किंचि, अप्पिय पि न विज्जए ॥२७॥
सुख वसामो जीवाम, येषाम् अस्माक नास्ति किञ्चन ।
मिथिलायां दह्यमानायां, न मे दह्यते किञ्चन ॥२६॥
त्यक्तपुत्रकलत्रस्य, निर्व्यापारस्य भिक्षो ।
प्रिय न विद्यते किञ्चित्, अप्रियमपि न विद्यते ॥२७॥

१०२ इन्द्रिय-विषयों तथा कषायों का निग्रह कर ध्यान और स्वाध्याय के द्वारा जो आत्मा को भावित करता है उसीके तपधर्म होता है।

१०३ सब द्रव्यों में होनेवाले मोह को त्यागकर जो त्रिविध निर्वेद (ससार देह तथा भोगों के प्रति वैराग्य) से अपनी आत्मा को भावित करता है, उसके त्यागधम होता है, ऐसा जिनेन्द्र-देव ने कहा है।

१०४ त्यागी वही कहलाता है, जो कान्त और प्रिय भोग उपलब्ध होने पर उनकी ओर से पीठ फेर लेता है और स्वाधीनतापूर्वक भोगों का त्याग करता है।

१०५ जो मुनि सब प्रकार के परिग्रह का त्याग कर नि संग हो जाता है, अपने सुखद व दु खद भावों का निग्रह करके निर्द्वन्द्व विचरता है, उसके आकिंचन्य धर्म होता है।

१०६ मैं एक, शुद्ध, दर्शन-ज्ञानमय, नित्य और अरूपी हूँ। इसके अतिरिक्त अन्य परमाणुमात्र भी वस्तु मेरी नही है। (यह आकिंचन्यधर्म है।)

१०७-१०८ हम लोग, जिनके पास अपना कुछ भी नही है, सुखपूर्वक रहते और सुख से जीते हैं। मिथिला जल रही है उसमें मेरा कुछ भी नही जल रहा है, क्योंकि पुत्र और स्त्रियों से मुक्त तथा व्यवसाय से निवृत्त भिक्षु के लिए कोई वस्तु प्रिय भी नहीं होती और अप्रिय भी नहीं होती। (यह बात राज्य त्यागकर साधु हो जानेवाले राजर्षि नमि के दृढ वैराग्य से सम्बद्ध है।)

१०९ जहा पोम्म जले जाय, नोवलिप्पइ वारिणा ।
एव अलित्त कामेहिं, त वय बूम माहण ॥२८॥
यथा पद्म जले जात, नोपलिप्यते वारिणा ।
एवमलिप्त कामै, त वय ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२८॥

११० दुक्ख हय जस्स न होइ मोहो, मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा ।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो, लोहो हओ जस्स न किंचणाइ ॥२९॥
दु ख हत यस्य न भवति मोह , मोहो हतो यस्य न भवति तृष्णा ।
तृष्णा हता यस्य न भवति लोभ , लोभो हतो यस्य न किञ्चन ॥२९॥

१११ जीवो बभ जीवम्मि, चेव चरिया हविज्ज जा जदिणो ।
त जाण बभचेर, विमुक्कपरदेहतित्तिस्स ॥३०॥
जीवो ब्रह्म जीवे, चैव चर्या भवेत् या यते ।
तद् जानीहि ब्रह्मचर्य, विमुक्त-परदेहतृप्ते ॥३०॥

११२ सव्वग पेच्छतो, इत्थीण तासु मुयदि दुब्भाव ।
सो बम्हचेरभाव, सुक्कदि खलु दुद्धर धरदि ॥३१॥
सर्वाङ्ग प्रेक्षमाण स्त्रीणा तासु मुञ्चति दुर्भावम् ।
स ब्रह्मचर्यभाव, सुकृती खलु दुर्धर धरति ॥३१॥

११३ जउकुभे जोइउवगूढे, आसुभितत्ते नासमुवयाइ ।
एविथियाहि अणगारा, सवासेण नासमुवयति ॥३२॥
जतुकुम्भे ज्योतिरुपगूढ आशुभितप्तो नाशमुपयाति ।
एव स्त्रीभिरनगारा, सवासेन नाशमुपयान्ति ॥३२॥

११४ एए य सगे समइक्कमित्ता, सुदुत्तरा चेव भवति सेसा ।
जहा महासागरमुत्तरित्ता, नई भवे अवि गगासमाणा ॥३३॥
एतांश्च सगान् समतिक्रम्य, सुदुस्तराश्चैव भवन्ति शेषा ।
यथा महासागरमुत्तीर्य, नदी भवेदपि गङ्गासमाना ॥३३॥

११५ जह सीलरक्खयाण, पुरिसाण णिदिदाओ महिलाओ ।
तह सीलरक्खयाण, महिलाण णिदिदा पुरिसा ॥३४॥
यथा शीलरक्षकाणा, पुरुषाणा निन्दिता भवन्ति महिला ।
तथा शीलरक्षकाणा, महिलाना निन्दिता भवन्ति पुरुषा ॥३४॥

१०९ जिस प्रकार जल में उत्पन्न हुआ कमल जल से लिप्त नही होता, इसी प्रकार काम-भोग के वातावरण में उत्पन्न हुआ जो मनुष्य उससे लिप्त नही होता, उसे हम ब्राह्मण कहते ह ।

११० जिसक मोह नही है, उसने दु ख का नाश कर दिया । जिसके तृष्णा नही है, उसने मोह का नाश कर दिया । जिसके लोभ नही है, उसने तृष्णा का नाश कर दिया (और) जिसके पास कुछ नही है, उसने लोभ का (ही) नाश कर दिया ।

१११ जीव ही ब्रह्म है । देहासक्ति से मुक्त मुनि की ब्रह्म (आत्मा) के लिए जो चर्या है, वही ब्रह्मचर्य है ।

११२ स्त्रियो के मनोहर सर्वाङ्गो को देखते हुए भी जो इनमे दुर्भाव नही करता—विकार को प्राप्त नही होता, वही वास्तव में सुन्दर ब्रह्मचर्यभाव को धारण करता है ।

११३ जैसे लाख का घडा अग्नि से तप्त होने पर शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, वैसे ही स्त्री-सहवास मे अनगार (मुनि) नष्ट हो जाता है ।

११४ जो मनुष्य इन स्त्री विषयक आसक्तियो का पार पा जाता है, उसके लिए शेष सारी आसक्तियाँ वैसे ही सुतर (सुख से पार पाने योग्य) हो जाती है, जैसे महासागर का पार पानेवाले के लिए गगा जैसी बडी नदी ।

११५ जैसे शील-रक्षक पुरुषो के लिए स्त्रियाँ निन्दनीय ह, वैसे ही शीलरक्षिका स्त्रियो के लिए पुरुष निन्दनीय है । (दोनो को एक-दूसरे से बचना चाहिए ।)

११६ किं पुण गुणसहियाओ, इत्थीओ अत्थि वित्थडजसाओ ।
णरलोगदेवदाओ, देवेहिं वि वंदणिज्जाओ ॥३५॥
किं पुन ? गुणसहिता, स्त्रियः सन्ति विस्तृतयशसः ।
नरलोकदेवता देवैरपि वन्दनीया ॥३५॥

११७ तेल्लोक्काडविडहणो, कामग्गी विसयरुक्खपज्जलिओ ।
जोव्वणतणिल्लचारी, जं ण डहइ सो हवइ धण्णो ॥३६॥
त्रैलोक्याटविदहन, कामाग्निर्विषयवृक्षप्रज्वलित ।
यौवनतृणमचरणचतुर, य न दहति स भवति धन्य ॥३६॥

११८ जा जा वज्जई रयणी, न सा पडिनियत्तई ।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जन्ति राइओ ॥३७॥
या या व्रजति रजनी, न सा प्रतिनिवर्तते ।
अधर्मं कुर्वाणस्य, अफला यान्ति रात्रय ॥३७॥

११९–१२० जहा य तिण्णि वणिया, मूलं घेत्तूण निग्गया ।
एगोऽत्थ लहई लाहं, एगो मूलेण आगओ ॥३८॥
एगो मूलं पि हारित्ता, आगओ तत्थ वाणिओ ।
ववहारे उवमा एसा, एवं धम्मे वियाणह ॥३९॥
यथा च त्रयो वणिज, मूलं गृहीत्वा निर्गता ।
एकोऽत्र लभते लाभम्, एको मूलेन आगत ॥३८॥
एक मूलम् अपि हारयित्वा आगतस्तत्र वाणिज ।
व्यवहारे उपमा एषा एवं धर्मे विजानीत ॥३९॥

१२१ अप्पा जाणइ अप्पा, जहट्ठिओ अप्पसक्खिओ धम्मो ।
अप्पा करेइ तं तह, जह अप्पसुहावओ होइ ॥४०॥
आत्मानं जानाति आत्मा, यथास्थितो आत्मसाक्षिको धर्म ।
आत्मा करोति तं तथा, यथा आत्मसुखापको भवति ॥४०॥

१० संयमसूत्र

१२२ अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा कामदुहा घेणू, अप्पा मे नंदणं वणं ॥१॥
आत्मा नदी वैतरणी, आत्मा मे कूटशाल्मली ।
आत्मा कामदुघा धेनु, आत्मा मे नन्दनं वनम् ॥१॥

११६ किन्तु ऐसी भी शीलगुणसम्पन्न स्त्रिया है, जिनका यश सर्वत्र व्याप्त है। वे मनुष्य लोक की देवता ह और देवो के द्वारा वन्दनीय है।

११७ वि यरूपी वृक्षो से प्रज्वलित कामाग्नि तीनो लोकरूपी अटवी को जला देती है, किन्तु यौवनरूपी तृण पर सचरण करने में कुशल जिस महात्मा को वह नही जलाती या विचलित नही करती वह धन्य है।

११८ जो-जो रात बीत रही है वह लौटकर नही आती। अधर्म करनेवाले की रात्रियाँ निष्फल चली जाती ह।

११९-१२० जैसे तीन वणिक् मूल पूजी को लेकर निकले। उनमे से एक लाभ उठाता है, एक मूल लेकर लौटता है, और एक मूल को भी गँवाकर वापस आता है। यह व्यापार की उपमा है। इसी प्रकार धर्म के विषय में जानना चाहिए।

१२१ आत्मा ही यथास्थित (निजस्वरूप में स्थित) आत्मा को जानता है। अतएव स्वभावरूप धर्म भी आत्मसाक्षिक होता है। इस धम का पालन (अनुभवन) आत्मा उसी विधि से करता है, जिससे कि वह अपने लिए सुखकारी हो।

१० सयमसूत्र

१२२ (मेरी) आत्मा ही वैतरणी नदी है। आत्मा ही कूटशाल्मली वृक्ष है। आत्मा ही कामदुहा धेनु है और आत्मा ही नन्दन-वन है।

१३० रागे दोसे य दो पावे, पावकम्मपवत्तणे ।
जे भिक्खू रुभई निच्च, से न अच्छइ मडले ॥९॥
रागो द्वेष च द्वौ पापौ, पापकर्मप्रवर्तकौ ।
यो भिक्षु रुणद्धि नित्य, स न आस्ते मण्डले ॥९॥

१३१ नाणेण य झाणेण य, तवोबलेण य बला निरुभति ।
इदियविसयकसाया, धरिया तुरगा व रज्जूहि ॥१०॥
ज्ञानेन च ध्यानेन च, तपोबलेन च बलान्निरुध्यन्ते ।
इन्द्रियविषयकषाया, धृतास्तुरगा इव रज्जुभि ॥१०॥

१३२ उयसाम पुवणीता, गुणमहता जिणचरित्तसरिस पि ।
पडिवातेंति कसाया, कि पुण सेसे सरागत्थे ॥११॥
उपशमम् अप्युपनीत, गुणमहान्त जिनचरित्रसदृशमपि ।
प्रतिपातयन्ति कषाया, किं पुन शेषान् सरागस्थान् ॥११॥

१३३ इह उवसतकसाओ, लहइ अणत पुणो वि पडिवाय ।
न हु भे वीससियव्व, थेवे वि कसायसेसम्मि ॥१२॥
इह उपशान्तकषायो, लभतेऽनन्त पुनरपि प्रतिपातम् ।
न हि युष्माभिर्विश्वसितव्य स्तोकेऽपि कषायशेषे ॥१२॥

१३४ अणथोव वणथोव, अग्गीथोव कसायथोव च ।
न हु भे वीससियव्व, थोव पि हु त बहु होइ ॥१३॥
ऋणस्तोक व्रणस्तोकम्, अग्निस्तोक कषायस्तोक च ।
न हि भवद्भिर्विश्वसितव्य, स्तोकमपि खलु तद् बहु भवति ॥१३॥

१३५ कोहो पीइ पणासेइ, माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्वविणासणो ॥१४॥
क्रोध प्रीतिं प्रणाशयति, मानो विनयनाशन ।
माया मित्राणि नाशयति, लोभ सर्वविनाशन ॥१४॥

१३६ उवसमेण हणे कोह, माण मद्दवया जिणे ।
माय चऽज्जवभावेण, लोभ सतोसओ जिणे ॥१५॥
उपशमेन हन्यात् क्रोध मान [illegible] ।
माया च आर्जव [illegible] स [illegible] ॥१५॥

१३० पापकर्म के प्रवर्तक राग और द्वेष ये दो पाप हैं। जो भिक्षु इनका सदा निरोध करता है वह मडल (ससार) में नही रुकता—मुक्त हो जाता है।

१३१ ज्ञान, ध्यान और तपोबल से इन्द्रिय-विषयो और कषायो को बलपूर्वक रोकना चाहिए, जैसे कि लगाम के द्वारा घोडो को बल-पूर्वक रोका जाता है।

१३२ महागुणी मुनि के द्वारा उपशान्त किये हुए कषाय जिनेश्वर-देव के समान चरित्रवाले उस (उपशमक वीतराग) मुनि को भी गिरा देते है, तब सराग मुनियो का तो कहना ही क्या ?

१३३ जब कि कषायो को उपशान्त करनेवाला पुरुष भी अनन्त-प्रतिपात (विशुद्ध अध्यवसाय की अनन्तहीनता) को प्राप्त हो जाता है, तब अवशिष्ट थोडी-सी कषाय पर कैसे विश्वास किया जा सकता है ? उस पर विश्वास नही करना चाहिए।

१३४ ऋण को थोडा, घाव को छोटा, आग को तनिक और कषाय को अल्प मान, विश्वस्त होकर नही बैठ जाना चाहिए। क्योकि ये थोडे भी बढकर बहुत हो जाते है।

१३५ क्रोध प्रीति को नष्ट करता है, मान विनय को नष्ट करता है, माया मैत्री को नष्ट करती है और लोभ सब कुछ नष्ट करता है।

१३६ क्षमा से क्रोध का हनन करे, नम्रता से मान को जीते, ऋजुता से माया को और सन्तोष से लोभ को जीते।

१४३-१४४ मिच्छत्तवेदरागा, तहेव हासादिया य छद्दोसा।
चत्तारि तह कसाया, चउदस अब्भतरा गथा ॥४॥
बाहिरसगा खेत्त, वत्थु धणधन्नकुप्पभाडाणि।
दुपयचउप्पय जाणाणि, केव सयणासणे य तहा ॥५॥
मिथ्यात्ववेदरागा, तथैव हासादिका च षड्दोषा।
चत्वारस्तथा कषाया, चतुर्दश अभ्यन्तरा ग्रथा ॥४॥
बाह्यसगा क्षेत्र, वास्तुधनधान्यकुप्यभाण्डानि।
द्विपदचतुष्पदानि यानानि, चैव शयनासनानि च तथा ॥५॥

१४५ सव्वगथविमुक्को, सीईभूओ पसतचित्तो अ।
ज पावइ मुत्तिसुह, न चक्कवट्टी वि त लहइ ॥६॥
सवग्रथविमुक्त, शीतीभूत प्रशान्तचित्तश्च।
यत्प्राप्नोति मुक्तिसुख, न चक्रवर्त्यपि तल्लभते ॥६॥

१४६ गथच्चाओ इदिय-णिवारणे अकुसो व हत्थिस्स।
णयरस्स खाइया वि य, इदियगुत्ती असगत्त ॥७॥
ग्रथत्याग इन्द्रिय निवारणे अकुश इव हस्तिन।
नगरस्य खातिका इव च, इन्द्रियगुप्ति असगत्वम् ॥७॥

१२ अहिंसासूत्र

१४७ एय खु नाणिणो सार, ज न हिंसइ कचण।
अहिंसासमय चेव, एतावते वियाणिया ॥१॥
एतत् खलु ज्ञानिन सार यत् न हिनस्ति कञ्चन।
अहिंसा समता चैव, एतावती विजानीयात् ॥१॥

१४८ सव्वे जीवा वि इच्छति, जीविउ न मरिज्जिउ।
तम्हा पाणवह घोर, निग्गथा वज्जयति ण ॥२॥
सर्वे जीवा अपि इच्छन्ति, जीवितु न मर्तुम्।
तस्मात्प्राणवध घोर, निर्ग्रन्था वर्जयन्ति तम् ॥२॥

१४३-१४४ परिग्रह दो प्रकार का है—आभ्यन्तर और बाह्य ।
आभ्यन्तर परिग्रह चौदह प्रकार का है
१ मिथ्यात्व, २ स्त्रीवेद, ३ पुरुषवेद, ४ नपुसकवेद, ५ हास्य, ६ रति, ७ अरति, ८ शोक, ९ भय, १० जुगुप्सा, ११ क्रोध, १२ मान, १३ माया, १४ लोभ ।
बाह्य परिग्रह दस प्रकार का है
१ खेत, २ मकान, ३ धन-धान्य, ४ वस्त्र, ५ भाण्ड, ६ दास-दासी, ७ पशु, ८ यान, ९ शय्या, १० आसन

१४५ सम्पूर्ण परिग्रह से मुक्त, शीतीभूत, प्रसन्नचित्त श्रमण जैसा मुक्तिसुख पाता है वैसा सुख चक्रवर्ती को भी नही मिलता ।

१४६ जैसे हाथी को वश में रखने के लिए अकुश होता है और नगर की रक्षा के लिए खाई होती है, वैसे ही इन्द्रिय निवारण के लिए परिग्रह का त्याग (कहा गया) है । परिग्रह त्याग से इन्द्रियाँ वश में होती ह ।

१२ अहिंसासूत्र

१४७ ज्ञानी होने का सार यही है कि (वह) किसी भी प्राणी की हिंसा न करे । इतना जानना ही पर्याप्त है कि अहिंसामूलक समता ही धर्म है अथवा यही अहिंसा का विज्ञान है ।

१४८ सभी जीव जीना चाहते ह, मरना नहीं । इसलिए प्राणवध को भयानक जानकर निर्ग्रंथ उसका वर्जन करते हैं ।

१४९ जावंति लोए पाणा, तसा अदुव थावरा।
ते जाणमजाण वा, ण हणे णो वि घायए ॥३॥
यावन्तो लोके प्राणा-स्त्रसा अथवा स्थावरा।
तान् जानन्नजानन्वा, न हन्यात् नोऽपि घातयेत ॥३॥

१५० जह ते न पिअं दुक्खं, जाणिअ एमेव सव्वजीवाणं।
सव्वायरमुवउत्तो, अत्तोवम्मेण कुणसु दयं ॥४॥
यथा ते न प्रियं दुःखं, ज्ञात्वैवमेव सर्वजीवानाम्।
सर्वादरमुपयुक्तः, आत्मौपम्येन कुरु दयाम् ॥४॥

१५१ जीववहो अप्पवहो, जीवदया अप्पणो दया होइ।
ता सव्वजीवहिंसा, परिचत्ता अत्तकामेहिं ॥५॥
जीववधः आत्मवधः, जीवदयाऽऽत्मनो दया भवति।
तस्मात् सर्वजीवहिंसा, परित्यक्ताऽऽत्मकामैः ॥५॥

१५२ तुमं सि नाम स चेव, जं हंतव्वं ति मन्नसि।
तुमं सि नाम स चेव, जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि ॥६॥
त्वम् असि नाम स एव, यं हन्तव्यमिति मन्यसे।
त्वम् असि नाम स एव, यमाज्ञापयितव्यमिति मन्यसे ॥६॥

१५३ रागादीणमणुप्पाओ, अहिंसकत्तं त्ति देसियं समए।
तेसिं चे उप्पत्ती, हिंसेत्ति जिणेहि णिद्दिट्ठा ॥७॥
रागादीनामनुत्पादः, अहिंसकत्वमिति देशितं समये।
तेषां चेद् उत्पत्तिः, 'हिंसा' इति जिनैर्निर्दिष्टा ॥७॥

१५४ अज्झवसिएण बंधो, सत्ते मारेज्ज मा य मारेज्ज।
एसो बंधसमासो, जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥८॥
अध्यवसितेन बन्धः, सत्त्वान् मारयेद् मा अथ मारयेत।
एष बन्धसमासो, जीवानां निश्चयनयस्य ॥८॥

१५५ हिंसादो अविरमणं, वहपरिणामो य होइ हिंसा हु।
तम्हा पमत्तजोगे, पाणव्ववरोवओ णिच्चं ॥९॥
हिंसातोऽविरमणं, वधपरिणामः च भवति हिंसा हि।
तस्मात् प्रमत्तयोगे, प्राणव्यपरोपतः नित्यम् ॥९॥

१४९ लोक में जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं, निर्ग्रन्थ जान या अजान में उनका हनन न करे और न कराये ।

१५० जैसे तुम्हें दु ख प्रिय नही है, वैसे ही सब जीवो को दु ख प्रिय नही है—ऐसा जानकर, पूर्ण आदर और सावधानीपूर्वक, आत्मौपम्य की दृष्टि से सब पर दया करो ।

१५१ जीव का वध अपना ही वध है । जीव की दया अपनी ही दया है । अत आत्महितैषी (आत्मकाम) पुरुषों ने सभी तरह की जीव-हिंसा का परित्याग किया है ।

१५२ जिसे तू हननयोग्य मानता है, वह तू ही है । जिसे तू आज्ञा में रखने योग्य मानता है, वह तू ही है ।

१५३ जिनेश्वरदेव ने कहा है—राग आदि की अनुत्पत्ति अहिंसा है और उनकी उत्पत्ति हिंसा है ।

१५४ हिंसा करने के अध्यवसाय से ही कर्म का बंध होता है, फिर कोई जीव मरे या न मरे । निश्चयनय के अनुसार सक्षेप में जीवो के कर्म बंध का यही स्वरूप है ।

१५५ हिंसा से विरत न होना, हिंसा का परिणाम रखना हिंसा ही है । इसलिए जहा प्रमाद है वहाँ नित्य हिंसा है

१५६ णाणी कम्मस्स खयत्य मुट्ठिदो णोट्ठिदो य हिंसाए
अयदि असढ अहिंसत्य, अप्पमत्तो अवधगो सो ॥१०॥
ज्ञानी कमण क्षयाथ-मुत्थितो नोत्थित च हिंसाये ।
यतति अशठम् अहिंसार्थम् अप्रमत्त अवधक स ॥१०॥

१५७ अत्ता चेव अहिंसा, अत्ता हिंसति णिच्छओ समए ।
जो होदि अप्पमत्तो, अहिंसगो हिंसगो इदरो ॥११॥
आत्मैवाहिंसाऽऽत्मा, हिंमेति निश्चय समये ।
यो भवति अप्रमत्तोऽहिंसक , हिंमक इतर ॥११॥

१५८ तुग न मदराओ, आगासाओ विसालय नत्थि ।
जह तह जयमि जाणसु, धम्ममहिंसासम नत्थि ॥१२॥
तुङ्ग न मन्दरात्, आकाशाद्विशालक नास्ति ।
यथा तथा जगति जानीहि, धर्मोऽहिंसासमो नास्ति ॥१२॥

१५९ अभय पत्थिवा ! तुब्भ, अभयदाया भवाहि य ।
अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसि ॥१३॥
अभय पार्थिव ! तुभ्यम् अभयदाता भव च ।
अनित्ये जीवलाके, किं हिंसाया प्रसज्जसि ॥१३॥

१३ अप्रमादसूत्र

१६० इम च मे अत्थि इम च नत्थि, इम च मे किच्च इम अकिच्च ।
त एवमेव लालप्पमाण, हरा हरति त्ति कह पमाए ? ॥१॥
इद च मेऽस्ति इद च नास्ति, इद च मे कृत्यमिदमकृत्यम् ।
तमेवमेव लालप्यमान, हरा हरन्तीति कथ प्रमाद ? ॥१॥

१६१ सीतति सुवताण, अत्था पुरिसाण लोगसारत्था ।
तम्हा जागरमाणा, विधुणध पोराणय कम्म ॥२॥
सीदन्ति स्वपताम्, अर्था पुरुषाणा लोकसारार्था ।
तस्माज्जागरमाणा, विधूनयत पुराणक कर्म ॥२॥

१५६ ज्ञानी कर्म-क्षय के लिए उद्यत हुआ है, हिंसा के लिए नही। वह निश्छलभाव मे अहिंसा के लिए प्रयत्नशील रहता है। वह अप्रमत्त मुनि अहिंसक होता है।

१५७ आत्मा ही अहिंसा है और आत्मा ही हिंसा है—यह सिद्धान्त का निश्चय है। जो अप्रमत्त है वह अहिंसक है और जो प्रमत्त है वह हिंसक है।

१५८ जैसे जगत् में मेरु पर्वत से ऊँचा और आकाश से विशाल और कुछ नही है, वैसे ही अहिंसा के समान कोई धर्म नही है।

१५९ मुनि ने कहा 'पार्थिव! तुझे अभय है और तू भी अभयदाता बन। इस अनित्य जीव-लोक में तू क्यों हिंसा में आसक्त हो रहा है?'

१३ अप्रमादसूत्र

१६० यह मेरे पास है और यह नही है, यह मुझे करना है और यह नही करना है—इस प्रकार वृथा बकवास करते हुए पुरुष को उठाने वाला (काल) उठा लेता है। इस स्थिति में प्रमाद कैसे किया जाय?

१६१ इस जगत् में ज्ञान आदि सारभूत अर्थ है। जो पुरुष सोते है उनके वे अर्थ नष्ट हो जाते है। अत सतत जागते रहकर पूर्वार्जित कर्मों को प्रकम्पित करो।

१६२ जागरिया धम्मीण, अहम्मीण च सुत्तया सेया ।
वच्छाहिवभगिणीए, अकहिंसु जिणो जयंतीए ॥३॥
जागरिका धर्मिणाम्, अधर्मिणा च सुप्तता श्रेयसी ।
वत्साधिपभगिन्या , कथितवान् जिन जयन्त्या ॥३॥

१६३ सुत्तेसु यावी पडिवुद्धजीवी, न वीससे पण्डिए आसुपण्णे ।
घोरा मुहुत्ता अवल सरीर, भारड-पक्खी व चरेऽप्पमत्तो ॥४॥
सुप्तेषु चापि प्रतिवुद्धजीवी, न विश्वसेत् पण्डित आशुप्रज्ञ ।
घोरा मुहूर्त्ता अवल शरीरम्, भारण्डपक्षीव चरेद् अप्रमत्त ॥४॥

१६४ पमाय कम्ममाहसु, अप्पमाय तहाऽवर ।
तब्भावादेसओ वावि, बाल पडियमेव वा ॥५॥
प्रमाद कर्म आहु रप्रमाद तथाऽपरम् ।
तद्भावादेशता वापि, बाल पण्डितमेव वा ॥५॥

१६५ न कम्मुणा कम्म खवेंति बाला, अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा ।
मेधाविणो लोभमया वतीता, सतोसिणो नो पकरेंति पाव ॥६॥
न कर्मणा कर्म क्षपयन्ति बाला, अकर्मणा कर्म क्षपयन्ति धीरा ।
मेधाविना लोभमदाद् व्यतीता , सन्तोषिणा नो प्रकुर्वन्ति पापम् ॥

१६६ सव्वओ पमत्तस्स भय, सव्वओ अप्पमत्तस्स नत्थि भय ॥७॥
सर्वत प्रमत्तस्य भय, सर्वतोऽप्रमत्तस्य नास्ति भयम् ॥७॥

१६७ नाऽऽलस्सेण सम सुक्ख, न विज्जा सह निद्दया ।
न वेरग्ग ममत्तेण, नारभेण दयालुया ॥८॥
नाऽऽलस्येन सम सौख्य, न विद्या सह निद्रया ।
न वैराग्य ममत्वेन, नारम्भेण दयालुता ॥८॥

१६८ जागरह नरा ! णिच्च, जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धी ।
जो सुवति ण सो धन्नो, जो जग्गति सो सया धन्नो ॥९॥
जागृत नरा ! नित्य, जागरमाणस्य वर्द्धते बुद्धि ।
य स्वपिति न सो धन्य , य जागर्त्ति स सदा धन्य ॥९॥

१६२ 'धार्मिकों का जागना श्रेयस्कर है और अधार्मिकों का सोना श्रेयस्कर है'—ऐसा भगवान महावीर ने वत्सदेश के राजा शतानीक की बहन जयन्ती से कहा था ।

१६३ आशुप्रज्ञ पण्डित सोये हुए व्यक्तियों के बीच भी जागृत रहे । प्रमाद में विश्वास न करे । मुहूर्त बड़े घोर (निर्दयी) होते हैं । शरीर दुर्बल है, इसलिए वह भारण्ड पक्षी की भाँति अप्रमत्त होकर विचरण करे ।

१६४ प्रमाद को कर्म (आस्रव) और अप्रमाद को अकर्म (संवर) कहा है । प्रमाद के होने से मनुष्य बाल (अज्ञानी) होता है । प्रमाद के न होने से मनुष्य पंडित (ज्ञानी) होता है ।

१६५ (अज्ञानी साधक कर्म प्रवृत्ति के द्वारा कर्म का क्षय होना मानते हैं किन्तु) वे कर्म के द्वारा कर्म का क्षय नहीं कर सकते । धीर पुरुष अकर्म (संवर या निवृत्ति) के द्वारा कर्म का क्षय करते हैं । मेधावी पुरुष लोभ और मद से अतीत तथा सन्तोषी होकर पाप नहीं करते ।

१६६ प्रमत्त को सब ओर से भय होता है । अप्रमत्त को कोई भय नहीं होता ।

१६७ आलसी सुखी नहीं हो सकता, निद्रालु विद्याभ्यासी नहीं हो सकता, ममत्व रखनेवाला वैराग्यवान नहीं हो सकता, और हिंसक दयालु नहीं हो सकता ।

१६८ मनुष्यो ! सतत जागृत रहो । जो जागता है उसकी बुद्धि बढ़ती है । जो सोता है वह धन्य नहीं है, धन्य वह है, जो सदा जागता है ।

१६९ आदाणे णिक्खेवे, वोसिरणे ठाणगमणसयणेसु ।
सव्वत्थ अप्पमत्तो, दयावरो होदु हु अहिंसओ ॥१०॥
आदाने निक्षेपे, व्युत्सजने स्थानगमनशयनेषु ।
सर्वत्राऽप्रमत्तो, दयापरो भवति खल्वहिंसक ॥१०॥

१४ शिक्षासूत्र

१७० विवत्ती अविणीअस्स, सपत्ती विणीअस्स य ।
जस्सेय दुहओ नाय, सिक्ख से अभिगच्छइ ॥१॥
विपत्तिरविनीतस्य, सपत्तिर्विनीतस्य च ।
यस्यैतद् द्विधा ज्ञात, शिक्षा स अधिगच्छति ॥१॥

१७१ अह पचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भई ।
थम्भा कोहा पमाएण, रोगेणाऽलस्सएण य ॥२॥
अथ पञ्चभि स्थानै, यै शिक्षा न लभ्यते ।
स्तम्भात् क्रोधात् प्रमादेन, रोगेणालस्यके च ॥२॥

१७२-१७३ अह अट्ठहिं ठाणेहिं, सिक्खासीले त्ति वुच्चई ।
अहस्सिरे सया दते, न य मम्ममुदाहरे ॥३॥
नासीले न विसीले, न सिया अइलोलुए ।
अकोहणे सच्चरए, सिक्खासीले त्ति वुच्चई ॥४॥
अथाष्टभि स्थानै, शिक्षाशील इत्युच्यते ।
अहसनशील सदा दान्त, न च मर्म उदाहरेत् ॥३॥
नाशीला न विशील, न स्यादतिलोलुप ।
अक्रोधन सत्यरत, शिक्षाशील इत्युच्यते ॥४॥

१७४ नाणमेगग्गचित्तो अ, ठिओ अ ठावयई पर ।
सुआणि अ अहिज्जित्ता, रओ सुअसमाहिए ॥५॥
ज्ञानमेकाग्रचित्तश्च, स्थित च स्थापयति परम् ।
श्रुतानि च अधीत्य, रत श्रुतसमाधौ ॥५॥

१६९ वस्तुओ को उठाने-धरने में, मल-मूत्र का त्याग करने में, बैठने तथा चलने-फिरने में, और शयन करने में जो दयालु पुरुष सदा अप्रमादी रहता है, वह निश्चय ही अहिंसक है ।

१४ शिक्षासूत्र

१७० अविनयी के ज्ञान आदि गुण नष्ट हो जाते हैं, यह उसकी विपत्ति है और विनयी को ज्ञान आदि गुणो की सम्प्राप्ति होती है, (यह उसकी सम्पत्ति है । इन दोनो बातो को जाननेवाला ही ग्रहण और आसेवनरूप) सच्ची शिक्षा प्राप्त करता है ।

१७१ इन पाँच स्थानो या कारणो से शिक्षा प्राप्त नही होती १ अभिमान, २ क्रोध, ३ प्रमाद, ४ रोग और ५ आलस्य ।

१७२-१७३ इन आठ स्थितियो या कारणो से मनुष्य शिक्षाशील कहा जाता है १ हँसी-मजाक नही करना, २ सदा इन्द्रिय और मन का दमन करना, ३ किसीका रहस्योद्घाटन न करना, ४ अशील (सर्वथा आचारविहीन) न होना, ५ विशील (दोषो से कलकित) न होना, ६ अति रसलोलुप न होना, ७ अक्रोधी रहना तथा ८ सत्यरत होना ।

१७४ अध्ययन के द्वारा व्यक्ति को ज्ञान और चित्त की एकाग्रता प्राप्त होती है । वह स्वय धर्म में स्थित होता है और दूसरो को भी स्थिर करता है तथा अनेक प्रकार के श्रुत का अध्ययन कर वह श्रुतसमाधि मे रत हो जाता है ।

१८१ आरुहवि अंतरप्पा, बहिरप्पो छडिऊण तिविहेण ।
झाइज्जइ परमप्पा, उवइट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥५॥
आरुह्य अन्तरात्मानं, बहिरात्मानं त्यक्त्वा त्रिविधेन ।
ध्यायते परमात्मा, उपदिष्टं जिनवरेन्द्रैः ॥५॥

१८२ चउगइभवसंभमणं, जाइजरामरणरोयसोका य ।
कुलजोणिजीवमग्गणठाणा जीवस्स णो संति ॥६॥
चतुर्गतिभवसंभ्रमणं, जातिजरामरण-रोगशोकाश्च ।
कुलयोनिजीवमार्गणा-स्थानानि जीवस्य नो सन्ति ॥६॥

१८३ वण्णरसगंधफासा, थीपुंसणवुंसयादि-पज्जाया ।
संठाणा संहणणा, सव्वे जीवस्स णो संति ॥७॥
वर्णरसगन्धस्पर्शाः, स्त्रीपुंनपुंसकादि-पर्यायाः ।
संस्थानानि संहननानि, सर्वे जीवस्य नो सन्ति ॥७॥

१८४ एदे सव्वे भावा, ववहारणयं पडुच्च भणिदा हु ।
सव्वे सिद्धसहावा, सुद्धणया संसिदी जीवा ॥८॥
एते सर्वे भावाः व्यवहारनयं प्रतीत्य भणिताः खलु ।
सर्वे सिद्धस्वभावाः, शुद्धनयात् संसृतौ जीवाः ॥८॥

१८५ अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥९॥
अरसमरूपमगन्धम् अव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम् ।
जानीह्यलिंगग्रहणं, जीवमनिर्दिष्टसंस्थानम् ॥९॥

१८६ णिद्दंडो णिद्दंदो, णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो ।
णीरागो णिद्दोसो, णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा ॥१०॥
निर्दण्डः निर्द्वन्द्वः, निर्ममः निष्कलः निरालम्बः ।
नीरागः निर्द्वेषः, निर्मूढः निर्भयः आत्मा ॥१०॥

१८७ णिग्गंथो णीरागो, णिस्सल्लो सयलदोसणिम्मुक्को ।
णिक्कामो णिक्कोहो, णिम्माणो णिम्मदो अप्पा ॥११॥
निर्ग्रन्थो नीरागो, निःशल्यः सकलदोषनिर्मुक्तः ।
निष्कामो निष्क्रोधो, निर्मानो निर्मदः आत्मा ॥११॥

१८१ जिनेश्वरदेव का यह कथन है कि तुम मन, वचन और काया से वहिरात्मा को छोडकर, अतरात्मा में आरोहण कर परमात्मा का ध्यान करो ।

१८२ शुद्ध आत्मा मे चतुर्गतिरूप भव-भ्रमण, जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक तथा कुल, योनि जीवस्थान और मार्गणास्थान नही होते ।

१८३ शुद्ध आत्मा मे वर्ण, रस, गध, स्पर्श तथा स्त्री, पुरु , नपुसक आदि पर्यायें, तथा सस्थान और सहनन नही होते ।

१८४ ये सब भाव व्यवहारनय की अपेक्षा से कहे गये हैं । शुद्धनय (निश्चयनय) की अपेक्षा से ससारी जीव भी सिद्धस्वरूप हैं ।

१८५ शुद्ध आत्मा वास्तव में अरस, अरूप, अगध, अव्यक्त, चैतन्य-गुणवाला अशब्द अलिङ्गग्राह्य (अनुमान का अविषय) और सस्थानरहित है ।

१८६ आत्मा, मन, वचन और कायरूप त्रिदड से रहित, निर्द्वन्द्व—अकेला, निर्मम—ममत्वरहित, निष्कल—शरीररहित, निरालम्ब—परद्रव्यालम्बन से रहित, वीतराग, निर्दोष, मोह-रहित तथा निर्भय है ।

१८७ वह (आत्मा) निर्ग्रन्थ (ग्रन्थिरहित) है, नीराग है, नि शल्य (निदान, माया और मिथ्यादर्शनशल्य से रहित) है, सव-दोषों से निर्मुक्त है, निष्काम (कामनारहित) है और नि क्रोध, निर्मान तथा निमद है ।

१८८ णवि होदि अप्पमत्तो, ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो ।
एवं भणंति सुद्धं, णाओ जो सो उ सो चेव ॥१२॥
नापि भवत्यप्रमत्तो, न प्रमत्तो ज्ञायकस्तु यो भावः ।
एवं भणन्ति शुद्धं, ज्ञातो यः स तु स चैव ॥१२॥

१८९ णाहं देहो ण मणो, ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं ।
कत्ता ण ण कारयिदा, अणुमंता णेव कत्तीणं ॥१३॥
नाहं देहो न मनो, न चैव वाणी न कारणं तेषाम् ।
कर्त्ता न न कारयिता, अनुमन्ता नैव कर्तॄणाम् ॥१३॥

१९० को णाम भणिज्ज बुहो, णाउं सव्वे पराइए भावे ।
मज्झमिणं ति य वयणं, जाणंतो अप्पयं सुद्धं ॥१४॥
को नाम भणेद् बुधः, ज्ञात्वा सर्वान् परकीयान् भावान् ।
ममेदमिति च वचनं जानन्नात्मकं शुद्धम् ॥१४॥

१९१ अहमिक्को खलु सुद्धो, णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो ।
तम्हि ठिओ तच्चित्तो, सव्वे एए खयं णेमि ॥१५॥
अहमेकः खलु शुद्धः निर्ममतः ज्ञानदर्शनसमग्रः ।
तस्मिन् स्थितस्तच्चित्तः सर्वानेतान् क्षयं नयामि ॥१५॥

●

१८८ आत्मा ज्ञायक है। जो ज्ञायक होता है, वह न अप्रमत्त होता है और न प्रमत्त। जो अप्रमत्त और प्रमत्त नहीं होता वह शुद्ध होता है। आत्मा ज्ञायकरूप में ही ज्ञात है और वह शुद्ध अर्थ में ज्ञायक ही है। उसमें ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है।*

१८९ मैं (आत्मा) न शरीर हूं, न मन हूं, न वाणी हूं और न उनका कारण हूं। मैं न कर्ता हूं, न करानेवाला हूं और न कर्ता का अनुमोदक ही हूं।

१९० आत्मा के शुद्ध स्वरूप का जाननेवाला तथा परकीय (आत्म-व्यतिरिक्त) भावों को जाननेवाला ऐसा कौन ज्ञानी होगा, जो यह कहेगा कि 'यह मेरा है।'

१९१ मैं एक हूं, शुद्ध हूं, ममतारहित हूं तथा ज्ञानदर्शन से परिपूर्ण हूं। अपने इस शुद्ध स्वभाव में स्थित और तन्मय होकर मैं इन सब (परकीय भावों) का क्षय करता हूं।

●

* गुणस्थानों की दृष्टि से जीव को छठे गुणस्थान तक प्रमत्त और सातवें से अप्रमत्त कहा जाता है। ये दोनों दशाएं शुद्ध जीव की नहीं हैं।

समणसुत्तं

द्वितीय खण्ड

मोक्षमार्ग

१६ मोक्षमार्गसूत्र

१९२ मग्गो मग्गफलं ति य, दुविहं जिणसासणे समक्खादं ।
मग्गो खलु सम्मत्तं मग्गफलं होइ णिव्वाणं ॥१॥
मार्गः मार्गफलम् इति च द्विविधं जिनशासने समाख्यातम् ।
मार्गः खलु सम्यक्त्वं मार्गफलं भवति निर्वाणम् ॥१॥

१९३ दंसणणाणचरित्ताणि, मोक्खमग्गो त्ति सेविदव्वाणि ।
साधूहि इदं भणिदं, तेहिं दु बंधो व मोक्खो वा ॥२॥
दर्शनज्ञानचारित्राणि, मोक्षमार्ग इति सेवितव्यानि ।
साधुभिरिदं भणितं, तैस्तु बन्धो वा मोक्षो वा ॥२॥

१९४ अण्णाणादो णाणी, जदि मण्णदि सुद्धसंपओगादो ।
हवदि त्ति दुक्खमोक्खं, परसमयरदो हवदि जीवो ॥३॥
अज्ञानात् ज्ञानी यदि मन्यते शुद्धसम्प्रयोगात् ।
भवतीति दुःखमोक्षः, परसमयरतो भवति जीवः ॥३॥

१९५ वदसमिदीगुत्तीओ, सीलतवं जिणवरेहि पण्णत्तं ।
कुव्वंतो वि अभव्वो, अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु ॥४॥
व्रतसमितिगुप्तीः शीलतपः जिनवरैः प्रज्ञप्तम् ।
कुर्वन् अपि अभव्यः अज्ञानी मिथ्यादृष्टिस्तु ॥४॥

१९६ णिच्छयववहारसरूवं, जो रयणत्तयं ण जाणइ सो ।
जे कीरइ तं मिच्छा-रूवं सव्वं जिणुद्दिट्ठं ॥५॥
निश्चयव्यवहारस्वरूपं, यो रत्नत्रयं न जानाति सः ।
यत् करोति तन्मिथ्या-रूपं सर्वं जिनोद्दिष्टम् ॥५॥

१९७ सद्दहदि य पत्तेदि य, रोचेदि य तह पुणो य फासेदि ।
धम्मं भोगणिमित्तं, ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥६॥
श्रद्दधाति च प्रत्येति च, रोचयति च तथा पुनश्च स्पृशति ।
धर्मं भोगनिमित्तं, न तु सः कर्मक्षयनिमित्तम् ॥६॥

१६ मोक्षमार्गसूत्र

१९२ जिनशासन में 'मार्ग' तथा 'मार्गफल' इन दो प्रकारों से कथन किया गया है। 'मार्ग' 'मोक्ष' का उपाय है। उसका 'फल' 'निर्वाण' या 'मोक्ष' है।

१९३ (सम्यक्) दर्शन, ज्ञान, चारित्र तथा तप को जिनेन्द्रदेव ने मोक्ष का मार्ग कहा है। वह निश्चय और व्यवहार दो प्रकार का है। शुभ और अशुभभाव मोक्ष के मार्ग नहीं हैं। इन भावों से तो नियमतः कर्मबंध होता है।

१९४ अज्ञानवश यदि ज्ञानी भी ऐसा मानने लगे कि शुद्ध सम्प्रयोग अर्थात् भक्ति आदि शुभभाव से दुःख-मुक्ति होती है, तो वह भी राग का अंश होने से पर-समयरत होता है।

१९५ जिनेन्द्रदेव द्वारा प्ररूपित व्रत, समिति, गुप्ति, शील और तप का आचरण करते हुए भी अभव्य जीव अज्ञानी और मिथ्या-दृष्टि ही है।

१९६ जो निश्चय और व्यवहारस्वरूप रत्नत्रय (दर्शन, ज्ञान, चारित्र) को नहीं जानता, उसका सब-कुछ करना मिथ्यारूप है, यह जिनदेव का उपदेश है।

१९७ अभव्य जीव यद्यपि धर्म में श्रद्धा रखता है, उसकी प्रतीति करता है, उसमें रुचि रखता है, उसका पालन भी करता है, किन्तु यह सब वह धर्म को भोग का निमित्त समझकर करता है, कर्मक्षय का कारण समझकर नहीं करता।

सुहपरिणामो पुण्णं, असुहो पाव त्ति भणियमन्नेसु ।
परिणामो णन्नगदो, दुक्खक्खयकारणं समये ॥७॥
शुभपरिणामः पुण्यं अशुभः पापमिति भणितमन्येषु ।
परिणामो नान्यगतो, दुःखक्षयकारणं समये ॥७॥

१९९ पुण्णं पि जो समिच्छदि, संसारो तेण ईहिदो होदि ।
पुण्णं सुगईहेदुं, पुण्णखएणेव णिव्वाणं ॥८॥
पुण्यमपि यः समिच्छति, संसारः तेन ईहितः भवति ।
पुण्यं सुगतिहेतुः, पुण्यक्षयेण एव निर्वाणम् ॥८॥

२०० कम्ममसुहं कुसीलं, सुहकम्मं चावि जाण व सुसीलं ।
कह तं होदि सुसीलं, जं संसारं पवेसेदि ॥९॥
कर्म अशुभं कुशीलं, शुभकर्म चापि जानीहि वा सुशीलम् ।
कथं तद् भवति सुशीलं, यत् संसारं प्रवेशयति ॥९॥

२०१ सोवण्णियं पि णियलं, बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं ।
बंधदि एवं जीवं, सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥१०॥
सौवर्णिकमपि निगलं, बध्नाति कालायसमपि यथा पुरुषम् ।
बध्नात्येवं जीवं, शुभमशुभं वा कृतं कर्म ॥१०॥

२०२ तम्हा दु कुसीलेहिं य, रायं मा कुणह मा व संसग्गं ।
साहीणो हि विणासो, कुसीलसंसग्गरायेण ॥११॥
तस्मात्तु कुशीलैश्च, रागं मा कुरुत मा वा संसर्गम् ।
स्वाधीनो हि विनाशः, कुशीलसंसर्गरागेण ॥११॥

२०३ वरं वयतवेहिं सग्गो, मा दुक्खं होउ णिरइ इयरेहिं ।
छायातवट्ठियाणं, पडिवालंताण गुरुभेयं ॥१२॥
वरं व्रततपोभिः स्वर्गः, मा दुःखं भवतु निरये इतरैः ।
छायाऽऽतपस्थिताना, प्रतिपालयतां गुरुभेदं ॥१२॥

२०४ खयरामरमणुय-करंजलि-मालाहिं च संथुया विउला ।
चक्कहररायलच्छी, लब्भई बोही ण भव्वणुआ ॥१३॥
खचरामरमनुज-कराञ्जलि-मालाभिश्च संस्तुता विपुला ।
चक्रधरराजलक्ष्मीः, लभ्यते बोधिः न भव्यनुता ॥१३॥

१९८ (वह नही जानता कि–) परद्रव्य मे प्रवृत्त शुभ परिणाम पुण्य है और अशुभ-परिणाम पाप है। (धर्म) अनन्यगत अर्थात् स्व-द्रव्य में प्रवृत्त परिणाम है जो यथासमय दु खो के क्षय का कारण होता है।

१९९ जो पुण्य की इच्छा करता है, वह ससार की ही इच्छा करता है। पुण्य सुगति का हेतु (अवश्य) है, किन्तु निर्वाण तो पुण्य के क्षय से ही होता है।

२०० अशुभ-कर्म को कुशील और शुभ-कर्म को सुशील जाना। किन्तु उसे सुशील कैसे कहा जा सकता है जो ससार में प्रविष्ट कराता है?

२०१ बेडी सोने की हो चाहे लोहे की, पुरुष को दोनो ही बेडियाँ बाधती है। इसी प्रकार जीव को उसके शुभ-अशुभ कर्म बाधते है।

२०२ अत (परमार्थत) दोनो ही प्रकार के कर्मो को कुशील जानकर उनके साथ न राग करना चाहिए और न उनका ससर्ग। क्योकि कुशील (कर्मों) के प्रति राग और ससर्ग करने से स्वाधीनता नष्ट होती है।

२०३ (तथापि–) व्रत व तपादि के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति उत्तम है। इनके न करने पर नरकादि के दु ख उठाना ठीक नही है। क्योकि कष्ट सहते हुए धूप मे खडे रहने की अपेक्षा छाया मे खडे रहना कही अच्छा है। (इसी न्याय से लोक में पुण्य की सर्वथा उपेक्षा उचित नही।)

२०४ (इसमे सन्देह नही कि) शुभभाव से विद्याधरो, देवो तथा मनुष्यो की कराजलि-बद्ध स्तुतियो से स्तुत्य चक्रवर्ती सम्राट् की विपुल राज्यलक्ष्मी (तक) उपलब्ध हो सकती है, किन्तु सम्यक्-सम्बोधि प्राप्त नही होती।

२०५ तत्थ ठिच्चा जहाठाणं, जक्खा आउक्खए चुया ।
उवेन्ति माणुसं जोणिं, सेदुसंगेऽभिजायए ॥१४॥
तत्र स्थित्वा यथास्थानं, यक्षा आयुःक्षये च्युता ।
उपयान्ति मानुषीं योनिम्, स दशाङ्गोऽभिजायते ॥१४॥

२०६-२०७ भोच्चा माणुस्सए भोए, अप्पडिरूवे अहाउयं ।
पुव्वं विसुद्धसद्धम्मे, केवलं बोहि बुज्झिया ॥१५॥
चउरंग* दुल्लहं मत्ता, संजमं पडिवज्जिया ।
तवसा धुयकम्मंसे, सिद्धे हवइ सासए ॥१६॥
भुक्त्वा मानुष्यान् भोगान्, अप्रतिरूपान् यथायुष्कम् ।
पूर्वं विशुद्धसद्धर्मा, केवलां बोधिं बुद्ध्वा ॥१५॥
चतुरङ्गं दुर्लभं ज्ञात्वा, संयमं प्रतिपद्य ।
तपसा धूतकर्मांशः, सिद्धो भवति शाश्वतः ॥१६॥

१७ रत्नत्रयसूत्र

(अ) व्यवहार-रत्नत्रय

२०८ धम्मादीसद्दहणं, सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं ।
चिट्ठा तवंसि चरिया, ववहारो मोक्खमग्गो त्ति ॥१॥
धर्मादिश्रद्धानं, सम्यक्त्वं ज्ञानमङ्गपूर्वगतम् ।
चेष्टा तपसि चर्या, व्यवहारो मोक्षमार्ग इति ॥१॥

२०९ नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे ।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झई ॥२॥
ज्ञानेन जानाति भावान्, दर्शनेन च श्रद्धत्ते ।
चारित्रेण निगृह्णाति, तपसा परिशुध्यति ॥२॥

२१० नाणं चरित्तहीणं, लिंगग्गहणं च दंसणविहीणं ।
संजमहीणं च तवं, जो चरइ निरत्थयं तस्स ॥३॥
ज्ञानं चरित्रहीनं, लिङ्गग्रहणं च दर्शनविहीनम् ।
संयमविहीनं च तपः, यः चरति निरर्थकं तस्य ॥३॥

* मनुष्यत्व श्रुति, श्रद्धा वीर्य ।

२०५ (पुण्य के प्रताप से) देवलोक में यथास्थान रहकर आयुक्षय होने पर देवगण वहाँ से लौटकर मनुष्य योनि में जन्म लेते हैं। वहा वे दशांग भोग-सामग्री से युक्त होते हैं।

२०६-२०७ जीवनपर्यन्त अनुपम मानवीय भोगों को भोगकर पूर्वजन्म में विशुद्ध समीचीन धर्माराधन के कारण निर्मल बोधि का अनुभव करते हैं और चार अंगों (मनुष्यत्व, श्रुति, श्रद्धा तथा वीर्य) को दुर्लभ जानकर वे संयम धर्म स्वीकार करते हैं और फिर तपश्चर्या से कर्मों का नाश करके शाश्वत सिद्धपद को प्राप्त होते हैं।

१७ रत्नत्रयसूत्र

(अ) व्यवहार-रत्नत्रय

२०८ धर्म आदि (छह द्रव्य तथा तत्त्वार्थ आदि) का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। अंगों और पूर्वों का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। तप में प्रयत्नशीलता सम्यक्चारित्र है। यह व्यवहार मोक्ष-मार्ग है।

२०९ (मनुष्य) ज्ञान से जीवादि पदार्थों को जानता है, दर्शन से उनका श्रद्धान करता है, चारित्र से (कर्मास्रव का) निरोध करता है और तप से विशुद्ध होता है।

२१० (तीनों एक-दूसरे के पूरक हैं इसीलिए कहा है कि) चारित्र के बिना ज्ञान, सम्यग्दर्शन के बिना मुनिलिंग का ग्रहण और संयमविहीन तप का आचरण करना निरर्थक है।

२११ नादसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥४॥
नादर्शनिनो ज्ञानं, ज्ञानेन विना न भवन्ति चरणगुणाः ।
अगुणिनो नास्ति मोक्षः, नास्त्यमोक्षस्य निर्वाणम् ॥४॥

२१२ हयं नाणं कियाहीणं, हया अण्णाणओ किया ।
पासंतो पंगुलो दड्ढो, धावमाणो य अंधओ ॥५॥
हतं ज्ञानं क्रियाहीनं, हताऽज्ञानतः क्रिया ।
पश्यन् पङ्गुलः दग्धो, धावमानश्च अन्धकः ॥५॥

२१३ संजोअसिद्धीइ फलं वयंति, न हु एगचक्केण रहो पयाइ ।
अंधो य पंगू य वणे समिच्चा, ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा ॥६॥
संयोगसिद्धौ फलं वदन्ति, न खल्वेकचक्रेण रथः प्रयाति ।
अन्धश्च पङ्गुश्च वने समेत्य, तौ सम्प्रयुक्तौ नगरं प्रविष्टौ ॥६॥

(आ) निश्चय-रत्नत्रय

२१४ सम्मद्दंसणणाणं, एसो लहदि त्ति णवरि ववदेसं ।
सव्वणयपक्खरहिदो, भणिदो जो सो समयसारो ॥७॥
सम्यग्दर्शनज्ञानमेष लभते इति केवलं व्यपदेशम् ।
सर्वनयपक्षरहितो, भणितो यः स समयसारः ॥७॥

२१५ दंसणणाणचरित्ताणि, सेवियव्वाणि साहुणा णिच्चं ।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि, अप्पाणं जाण णिच्छयदो ॥८॥
दर्शनज्ञानचारित्राणि, सेवितव्यानि साधुना नित्यम् ।
तानि पुनर्जानीहि, त्रीण्यप्यात्मानं जानीहि निश्चयतः ॥८॥

२१६ णिच्छयणयेण भणिदो, तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा ।
ण कुणदि किंचि वि अन्नं, ण मुयदि सो मोक्खमग्गो त्ति ॥९॥
निश्चयनयेन भणितस्त्रिभिस्तैः, समाहितः खलु य आत्मा ।
न करोति किंचिदप्यन्यं, न मुञ्चति स मोक्षमार्ग इति ॥९॥

२११ सम्यग्दर्शन के विना ज्ञान नही होता । ज्ञान के विना चारित्रगुण नही होता । चारित्रगुण के विना मोक्ष (कर्मक्षय) नही होता और मोक्ष के विना निर्वाण (अनतआनद) नही होता ।

२१२ क्रियाविहीन ज्ञान व्यर्थ है और अज्ञानियो की क्रिया व्यथ है । जैसे पगु व्यक्ति वन में लगी आग को देखते हुए भी भागने मे असमर्थ होने से जल मरता है और अधा व्यक्ति दौडते हुए भी देखने में असमर्थ होने से जल मरता है ।

२१३ कहा जाता है कि ज्ञान और क्रिया के सयोग से ही फल की प्राप्ति होती है, जैसे कि वन में पगु और अधे के मिलने पर पारस्परिक सम्प्रयोग से (वन से निकलकर) दोनो नगर में प्रविष्ट हो जाते ह । एक पहिये से रथ नही चलता ।

(आ) निश्चय-रत्नत्रयसूत्र

२१४ जो सव नय-पक्षो से रहित है वही समयसार है, उसीको सम्यग्दशन तथा सम्यग्ज्ञान की सज्ञा प्राप्त होती है ।

२१५ साधु को नित्य दशन, ज्ञान और चारित्र का पालन करना चाहिए । निश्चयनय से इन तीनो का आत्मा ही समझना चाहिए । ये तीनो आत्मस्वरूप ही हे । अत निश्चय से आत्मा का सेवन ही उचित है ।

२१६ जो आत्मा इन तीनो मे समाहित हो जाता है और अन्य कुछ नहीं करता है और न कुछ छोडता है, उसीको निश्चयनय से मोक्षमाग कहा गया है ।

२१७ अप्पा अप्पम्मि रओ, सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जीवो ।
जाणइ त सण्णाण, चरदिह चारित्तमग्गु त्ति ॥१०॥
आत्मा आत्मनि रत , सम्यग्दृष्टि भवति स्फुट जीव ।
जानाति तत् सज्ञान, चरतीह चारित्रमार्ग इति ॥१०॥

२१८ आया हु महं नाणे, आया मे दसणे चरित्ते य ।
आया पच्चक्खाणे, आया मे सजमे जोगे ॥११॥
आत्मा खलु मम ज्ञान, आत्मा मे दर्शन चरित्र च ।
आत्मा प्रत्याख्यान, आत्मा मे सयमो योग ॥११॥

१८ सम्यक्त्वसूत्र

(अ) व्यवहार-सम्यक्त्व निश्चय-सम्यक्त्व

२१९ सम्मत्तरयणसार, मोक्खमहारुक्खमूलमिदि भणिय ।
त जाणिज्जइ णिच्छय-ववहारसरूवदोभेय ॥१॥
सम्यक्त्वरत्नसार, मोक्षमहावृक्षमूलमिति भणितम् ।
तज्ज्ञायते निश्चय-व्यवहारस्वरूपद्विभेदम् ॥१॥

२२० जीवादी सद्दहण, सम्मत्त जिणवरेहिं पण्णत्त ।
ववहारा णिच्छयदो, अप्पा ण हवइ सम्मत्त ॥२॥
जीवादीना श्रद्धान, सम्यक्त्व जिनवरै प्रज्ञप्तम् ।
व्यवहारात् निश्चयत , आत्मा ण भवति सम्यक्त्वम् ॥२॥

२२१ ज मोण त सम्म, ज सम्म तमिह होइ मोण ति ।
निच्छयओ इयरस्स उ, सम्म सम्मत्तहेऊ वि ॥३॥
यन् मौन तत् सम्यक् , यत सम्यक् तदिह भवति मौनमिति ।
निश्चयत इतरस्य तु, सम्यक्त्व सम्यक्त्वहेतुरपि ॥३॥

२२२ सम्मत्तविरहिया ण, सुट्ठु वि उग्ग तव चरता ण ।
ण लहंति बोहिलाह, अवि वाससहस्सकोडीहिं ॥४॥
सम्यक्त्वविरहिता ण, सुष्ठु अपि उग्र तप चरन्त ण ।
न लभन्त बोधिलाभ, अपि वर्षसहस्रकोटिभि ॥४॥

२१७ (इस दृष्टि से) आत्मा में लीन आत्मा ही सम्यग्दृष्टि होता है। जो आत्मा को यथार्थरूप में जानता है वही सम्यग्ज्ञान है, और उसमें स्थित रहना ही सम्यक्चारित्र है।

२१८ आत्मा ही मेरा ज्ञान है। आत्मा ही दर्शन और चारित्र है। आत्मा ही प्रत्याख्यान है और आत्मा ही संयम और योग है। अर्थात् ये सब आत्मरूप ही हैं।

१८ सम्यग्दर्शनसूत्र

(अ) व्यवहार-सम्यक्त्व निश्चय-सम्यक्त्व

२१९ रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन ही श्रेष्ठ है और इसीको मोक्षरूपी महावृक्ष का मूल कहा गया है। यह निश्चय और व्यवहार के रूप में दो प्रकार का है।

२२० व्यवहारनय से जीवादि तत्त्वों के श्रद्धान को जिनदेव ने सम्यक्त्व कहा है। निश्चय से तो आत्मा ही सम्यग्दर्शन है।

२२१ (अथवा) निश्चय से जो मौन है वही सम्यग्दर्शन है और जो सम्यग्दर्शन है वही मौन है। व्यवहार से जो निश्चय-सम्यग्दर्शन के हेतु हैं, वे भी सम्यग्दर्शन हैं।

२२२ सम्यक्त्वविहीन व्यक्ति हजारों-करोड़ वर्षों तक भलीभाँति उग्र तप करने पर भी बोधिलाभ प्राप्त नहीं करता।

२२३ दसणभट्ठा भट्ठा, दसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाण।
सिज्झति चरियभट्ठा, दसणभट्ठा ण सिज्झति ॥५॥
दर्शनभ्रष्टा भ्रष्टा, दर्शनभ्रष्टस्य नास्ति निर्वाणम्।
सिध्यन्ति चरित्रभ्रष्टा, दर्शनभ्रष्टा न सिध्यन्ति ॥५॥

२२४ दसणसुद्धो सुद्धो दसणसुद्धो लहेइ णिव्वाण।
दसणविहोण पुरिसो, न लहइ त इच्छिय लाह ॥६॥
दर्शनशुद्ध शुद्ध, दर्शनशुद्ध लभते निर्वाणम्।
दर्शनविहीन पुरुष, न लभते तम् इष्ट लाभम् ॥६॥

२२५ सम्मत्तस्स य लभो, तेलोक्कस्स य हवेज्ज जो लभो।
सम्मद्दसणलभो, वर खु तेलोक्कलभादो ॥७॥
सम्यक्त्वस्य च लाभस्त्रैलोक्यस्य च भवेत् यो लाभ।
सम्यग्दर्शनलाभो, वर खलु त्रैलोक्यलाभात् ॥७॥

२२६ कि बहुणा भणिएण, जे सिद्धा णरवरा गए काले।
सिज्झिहिति जे वि भविया, त जाणइ सम्ममाहप्प ॥८॥
कि बहुना भणितेन, ये सिद्धा नरवरा गते काले।
सेत्स्यन्ति येऽपि भव्या, तद् जानीत सम्यक्त्वमाहात्म्यम् ॥८॥

२२७ जह सलिलेण ण लिप्पइ, कमलिणिपत्त सहावपयडीए।
तह भावेण ण लिप्पइ, कसायविसएहि सप्पुरिसो ॥९॥
यथा सलिलेन न लिप्यते, कमलिनीपत्र स्वभावप्रकृत्या।
तथा भावेन न लिप्यते, कषायविषयै सत्पुरुष ॥९॥

२२८ उवभोगमिदियेहि, दव्वाणमचेदणाणमिदराण।
ज कुणदि सम्मदिट्ठी, त सव्व णिज्जरणिमित्त ॥१०॥
उपभोगमिन्द्रियै, द्रव्याणामचेतनानामितरेषाम्।
यत् करोति सम्यग्दृष्टि, तत् सर्व निर्जरानिमित्तम् ॥१०॥

२२९ सेवतो वि ण सेवइ, असेवमाणो वि सेवगो कोई।
पगरणचेट्ठा कस्स वि, ण य पायरणो त्ति सो होई ॥११॥
सेवमानोऽपि न सेवते, असेवमानोऽपि सेवक कश्चित्।
प्रकरणचेष्टा कस्यापि, न च प्राकरण इति स भवति ॥११॥

२२३ जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है वही भ्रष्ट है। दर्शन-भ्रष्ट को कभी निर्वाण-प्राप्ति नहीं होती। चारित्रविहीन सम्यग्दृष्टि तो (चारित्र धारण करके) सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु सम्यग्दर्शन से रहित सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकते।

२२४ (वास्तव में) जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध है वही निर्वाण प्राप्त करता है। सम्यग्दर्शन-विहीन पुरुष इष्टलाभ नहीं कर पाता।

२२५ एक ओर सम्यक्त्व का लाभ और दूसरी ओर त्रैलोक्य का लाभ होता हो तो त्रैलोक्य के लाभ से सम्यग्दर्शन का लाभ श्रेष्ठ है।

२२६ अधिक क्या कहें ? अतीतकाल में जो श्रेष्ठजन सिद्ध हुए है और जो आगे सिद्ध होंगे, वह सम्यक्त्व का ही माहात्म्य है।

२२७ जैसे कमलिनी का पत्र स्वभाव से ही जल से लिप्त नहीं होता, वैसे ही सत्पुरुष सम्यक्त्व के प्रभाव से कषाय और विषयों से लिप्त नहीं होता।

२२८ सम्यग्दृष्टि मनुष्य अपनी इन्द्रियों के द्वारा चेतन तथा अचेतन द्रव्यों का जो भी उपभोग करता है, वह सब कर्मों की निर्जरा में सहायक होता है।

२२९ कोई तो विषयों का सेवन करते हुए भी सेवन नहीं करता और कोई सेवन न करते हुए भी विषयों का सेवन करता है। जैसे कोई पुरुष विवाहादि कार्य में लगा रहने पर भी उस कार्य का स्वामी न होने से कर्ता नहीं होता।

२३० न कामभोगा समयं उवेंति, न यावि भोगा विगइं उवेंति ।
जे तप्पओसी य परिग्गही य, सो तेसु मोहा विगइं उवेइ ॥१२॥
न कामभोगाः समतामुपयन्ति, न चापि भोगा विकृतिमुपयन्ति ।
यस्तत्प्रद्वेषी च परिग्रही च, स तेषु मोहाद् विकृतिमुपैति ॥१२॥

(आ) सम्यग्दर्शन-अंग

२३१ निस्संकिय निक्कंखिय निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य ।
उववूह थिरीकरणे, वच्छल्ल पभावणे अट्ठ ॥१३॥
निःशङ्कित निःकाङ्क्षित, निर्विचिकित्सा अमूढदृष्टिश्च ।
उपबृंहा स्थिरीकरणे, वात्सल्य प्रभावनाऽष्टौ ॥१३॥

२३२ सम्मदिट्ठी जीवा, णिस्संका होंति णिब्भया तेण ।
सत्तभयविप्पमुक्का, जम्हा तम्हा दु णिस्संका ॥१४॥
सम्यग्दृष्टयो जीवा निश्शङ्का भवन्ति निर्भयास्तेन ।
सप्तभयविप्रमुक्ता, यस्मात् तस्मात् तु निश्शङ्काः ॥१४॥

२३३ जो दु ण करेदि कंखं, कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु ।
सो णिक्कंखो चेदा, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥१५॥
यस्तु न करोति काङ्क्षाम्, कर्मफलेषु तथा सर्वधर्मेषु ।
स निष्काङ्क्षश्चेतयिता, सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥१५॥

२३४ नो सक्कियमिच्छई न पूयं, नो वि य वंदणगं कुओ पसंसं ? ।
से संजए सुव्वए तवस्सी, सहिए आयगवेसए स भिक्खू ॥१६॥
न सत्कृतिमिच्छति न पूजां, नोऽपि च वन्दनकं कुतः प्रशंसाम् ।
स संयतः सुव्रतस्तपस्वी, सहित आत्मगवेषकः स भिक्षुः ॥१६॥

२३५ खाई-पूया-लाहं, सक्काराइं किमिच्छसे जोई ।
इच्छसि जइ परलोयं, तेहिं किं तुज्झ परलोये ॥१७॥
ख्याति-पूजा-लाभं, सत्कारादि किमिच्छसि योगिन् ! ।
इच्छसि यदि परलोकं तैः किं तव परलोके ? ॥१७॥

२३० (इसी तरह–) कामभोग न समभाव उत्पन्न करते ह और न विकृति (विषमता)। जो उनके प्रति द्वेष और ममत्व रखता है वह उनमे विकृति को प्राप्त होता है ।

(आ) सम्यग्दर्शन अग

२३१ सम्यग्दशन के ये आठ अग ह नि शका, निष्काक्षा, निर्विचिकित्सा, अमढदृष्टि, उपगूहन, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना ।

२३२ सम्यग्दृष्टि जीव नि शक होते ह और इसी कारण निभय भी होते ह । वे सात प्रकार के भयो—इस लोक का भय, परलोक-भय, अरक्षा-भय, अगुप्ति भय, मृत्यु-भय, वेदना-भय, और अकस्मात् भय—मे रहित होते है, इसीलिए नि शक होते ह । (अर्थात् नि शकता और निभयता दोना एक साथ रहनेवाले गुण ह ।)

२३३ जो समस्त कमफलो में और सम्पूण वस्तु धर्मों म किसी भी प्रकार की आकाक्षा नही रखता, उसीको निरकाक्ष सम्यग्दृष्टि समझना चाहिए ।

२३४ जो सत्कार, पूजा और वन्दना तक नही चाहता, वह किसीसे प्रशसा की अपेक्षा कैसे करेगा ? (वास्तव में) जो सयत है, सुव्रती है, तपस्वी है और आत्मगवपी है, वही भिक्षु है ।

२३५ हे योगी ! यदि त परलोक चाहता है तो ख्याति, लाभ, पूजा और सत्कार आदि क्या चाहता है ? क्या इनसे तुझे परलोक का सुख मिलेगा ?

२३६ जो ण करेदि जुगुप्पं, चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं ।
सो खलु णिव्विदिगिच्छो, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥१८॥
यो न करोति जुगुप्सां, चेतयिता सर्वेषामेव धर्माणाम् ।
स खलु निर्विचिकित्सः, सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥१८॥

२३७ जो हवइ असम्मूढो, चेदा सद्दिट्ठी सव्वभावेसु ।
सो खलु अमूढदिट्ठी, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥१९॥
यो भवति असमूढः, चेतयिता सद्दृष्टिः सर्वभावेषु ।
स खलु अमूढदृष्टिः, सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥१९॥

२३८ नाणेण दंसणेण च, चरित्तेण तहेव य ।
खन्तीए मुत्तीए, वड्ढमाणो भवाहि य ॥२०॥
ज्ञानेन दर्शनेन च, चारित्रेण तथैव च ।
क्षान्त्या मुक्त्या, वर्धमानो भव च ॥२०॥

२३९ णो छादए णोऽवि य लूसएज्जा, माणं ण सेवेज्ज पगासणं च ।
ण यावि पण्णे परिहास कुज्जा, ण याऽऽसियावाद वियागरेज्जा ॥
नो छादयेन्नापि च लूषयेद्, मानं न सेवेत प्रकाशनं च ।
न चापि प्राज्ञः परिहासं कुर्यात्, न चाप्याशीर्वादं व्यागृणीयात् ॥

२४० जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्तं, काएण वाया अदु माणसेणं ।
तत्थेव धीरो पडिसाहरेज्जा, आइन्नओ खिप्पमिवक्खलीणं ॥२२॥
यत्रैव पश्येत् क्वचित् दुष्प्रयुक्तं, कायेन वाचा अथ मानसेन ।
तत्रैव धीरः प्रतिसंहरेत्, आजानेय (जात्यश्व) क्षिप्रमिव खलीनम् ॥

२४१ तिण्णो हु सि अण्णवं महं, किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ ।
अभितुर पारं गमित्तए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२३॥
तीर्णः खलु असि अर्णवं महान्तं, किं पुनस्तिष्ठसि तीरमागतः ।
अभित्वरस्व पारं गन्तुं, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥२३॥

२४२ जो धम्मिएसु भत्तो, अणुचरणं कुणदि परमसद्धाए ।
पियवयणं जपंतो, वच्छल्लं तस्स भव्वस्स ॥२४॥
यः धार्मिकेषु भक्तः, अनुचरणं करोति परमश्रद्धया ।
प्रियवचनं जल्पन्, वात्सल्यं तस्य भव्यस्य ॥२४॥

२३६ जो समस्त धर्मों (वस्तु गत स्वभाव) के प्रति ग्लानि नहीं करता, उसीको निर्विचिकित्सा गुण का धारक सम्यग्दृष्टि समझना चाहिए।

२३७ जो समस्त भावों के प्रति विमूढ नहीं है--जागरूक है, निर्भ्रान्त है, दृष्टिसम्पन्न है, वह अमूढदृष्टि ही सम्यग्दृष्टि है।

२३८ ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, शान्ति (क्षमा) एवं मुक्ति (निर्लोभता) के द्वारा आगे बढ़ना चाहिए--जीवन को वर्धमान बनाना चाहिए।

२३९ (अमूढदृष्टि या विवेकी) किसीके प्रश्न का उत्तर देते समय न तो शास्त्र के अर्थ को छिपाये और न अपसिद्धान्त के द्वारा शास्त्र की असम्यक् व्याख्या करे। न मान करे और न अपने बडप्पन का प्रदर्शन करे। न किसी विद्वान् का परिहास करे और न किसीको आशीर्वाद दे।

२४० जब कभी अपने में दुष्प्रयोग की प्रवृत्ति दिखायी दे, उसे तत्काल ही मन, वचन, काय से धीर (सम्यग्दृष्टि) समेट ले, जैसे कि जातिवंत घोडा रास के द्वारा शीघ्र ही सीधे रास्ते पर आ जाता है।

२४१ तू महासागर को तो पार कर गया है, अब तट के निकट पहुँचकर क्यों खडा है? उसे पार करने में शीघ्रता कर। हे गौतम! क्षणभर का भी प्रमाद मत कर।

२४२ जो धार्मिकजनों में भक्ति (अनुराग) रखता है, परम श्रद्धापूर्वक उनका अनुसरण करता है तथा प्रिय वचन बोलता है, उस भव्य सम्यग्दृष्टि के वात्सल्य होता है।

२४३ धम्मकहाकहणेण य, बाहिरजोगेहिं चावि अणवज्जे ।
धम्मो पहाविदव्वो, जीवेसु दयाणुकपाए ॥२५॥
धमक्याकथनेन च, बाह्ययोगैश्चाप्यनवद्यै ।
धम प्रभावयितव्यो, जीवेषु दयानुकम्पया ॥२५॥

२४४ पावयणी धम्मकही, वाई नेमित्तिओ तवस्सी य ।
विज्जा सिद्धो य कवी, अट्ठेव पभावगा भणिया ॥२६॥
प्रावचनी धमकथी, वादी नैमित्तिक तपस्वी च ।
विद्यावान् सिद्ध च कवि ,अष्टौ प्रभावका कथिता ॥२६॥

१९ सम्यग्ज्ञानसूत्र

२४५ सोच्चा जाणइ कल्लाण, सोच्चा जाणइ पावग ।
उभय पि जाणए सोच्चा, ज छेय त समायरे ॥१॥
श्रुत्वा जानाति कल्याण, श्रुत्वा जानाति पापकम् ।
उभयमपि जानाति श्रुत्वा, यत् छेक तत् समाचरेत् ॥१॥

२४६ णाणाऽऽणत्तीए पुणो, दसणतवनियमसजमे ठिच्चा ।
विहरइ विसुज्झमाणो, जावज्जीव पि निक्कपो ॥२॥
ज्ञानाऽऽज्ञप्त्या पुन दर्शनतपोनियमसयमे स्थित्वा ।
विहरति विशुध्यमान, यावज्जीवमपि निष्कम्प ॥२॥

२४७ जह जह सुयमोगाहइ, अइसयरसपसरसजुयमपुव्व ।
तह तह पल्हाइ मुणी, नवनवसंवेगसद्धाओ ॥३॥
यथा यथा श्रुतमवगाहते, अतिशयरसप्रसरसयुतमपूर्वम् ।
तथा तथा प्रह्लादते मुनि , नवनवसवेगश्रद्धाय ॥३॥

२४८ सूई जहा ससुत्ता, न नस्सई कयवरम्मि पडिआ वि ।
जीवो वि तह ससुत्तो, न नस्सइ गओ वि ससारे ॥४॥
सूची यथा ससूत्रा, न नश्यति कचवरे पतिताऽपि ।
जीवोऽपि तथा ससूत्रा, न नश्यति गतोऽपि ससारे ॥४॥

२४३ धर्मकथा के कथन द्वारा और निर्दोष बाह्य-योग (ग्रीष्म ऋतु में पर्वत पर खडे होकर, वर्षा ऋतु में वृक्ष के नीचे, शीत ऋतु में नदी के किनारे ध्यान) द्वारा तथा जीवो पर दया व अनुकम्पा क द्वारा धर्म की प्रभावना करनी चाहिए ।

२४४ प्रवचन-कुशल, धर्मकथा करनेवाला, वादी, निमित्तशास्त्र का ज्ञाता, तपस्वी, विद्यासिद्ध तथा ऋद्धि-सिद्धियो का स्वामी और कवि (क्रातदर्शी) ये आठ पुरुष धर्म प्रभावक कहे गये है।

१९ सम्यग्ज्ञानसूत्र

२४५ (साधक) सुनकर ही कल्याण या आत्महित का मार्ग जान सकता है । सुनकर ही पाप या अहित का मार्ग जाना जा सकता है । अत सुनकर ही हित और अहित दोनो का मार्ग जानकर जो श्रेयस्कर हो उसका आचरण करना चाहिए ।

२४६ (और फिर) ज्ञान के आदेश द्वारा सम्यग्दर्शन-मूलक तप, नियम, सयम में स्थित होकर कर्म-मल से विशुद्ध (सयमी साधक) जीवनपर्यन्त निष्कम्प (स्थिरचित्त) होकर विहार करता है ।

२४७ जैसे-जैसे मुनि अतिशयरस के अतिरेक से युक्त अपूर्वश्रुत का अवगाहन करता है, वैसे-वैसे नित-नूतन वैराग्ययुक्त श्रद्धा से आह्लादित होता है ।

२४८ जैसे धागा पिरोयी हुई सुई गिर जाने पर भी खोती नहीं है, वैसे ही ससूत्र अर्थात् शास्त्रज्ञानयुक्त जीव ससार में नष्ट नहीं होता ।

२४९ सम्मत्तरयणभट्ठा, जाणता बहुविहाइ सत्थाइ ।
आराहणाविरहिया, भमति तत्थेव तत्थेव ॥५॥
सम्यक्त्वरत्नभ्रष्टा, जानन्तो बहुविधानि शास्त्राणि ।
आराधनाविरहिता, भ्रमन्ति तत्रैव तत्रैव ॥५॥

२५०–२५१ परमाणुमित्तय पि हु, रायादीण तु विज्जदे जस्स ।
ण वि सो जाणदि अप्पाणय तु सव्वागमधरो वि ॥६॥
अप्पाणमयाणतो, अणप्पय चावि सो अयाणतो ।
कह होदि सम्मदिट्ठी, जीवाजीवे अयाणतो ॥७॥
परमाणुमात्रमपि खलु, रागादीना तु विद्यते यस्य ।
नापि स जानात्यात्मान, तु सर्वागमधरोऽपि ॥६॥
आत्मानमजानन्, अनात्मान चापि सोऽजानन् ।
कथ भवति सम्यग्दृष्टि-र्जीवाजीवान् अजानन् ॥७॥

२५२ जेण तच्च विबुज्झेज्ज, जेण चित्त णिरुज्झदि ।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज, त णाण जिणसासणे ॥८॥
येन तत्त्व विबुध्यते, येन चित्त निरुध्यते ।
येन आत्मा विशुध्यते, तज् ज्ञान जिनशासने ॥८॥

२५३ जेण रागा विरज्जेज्ज, जेण सेएसु रज्जदि ।
जेण मित्ती पभावेज्ज, त णाण जिणसासणे ॥९॥
येन रागाद्विरज्यते, येन श्रेयस्सु रज्यते ।
येन मैत्री प्रभाव्येत, तज् ज्ञान जिनशासने ॥९॥

२५४ जो पस्सदि अप्पाण, अवद्धपुट्ठ अणन्नमविसेस ।
अपदेससुत्तमज्झ, पस्सदि जिणसासण सव्व ॥१०॥
य पश्यति आत्मान-मबद्धस्पृष्टमनन्यमविशेषम् ।
अपदेशसूत्रमध्य, पश्यति जिनशासन सर्वम् ॥१०॥

२५५ जो अप्पाण जाणदि, असुइ-सरीरादु तच्चदो भिन्न ।
जाणग-रूव-सरूव, सो सत्थ जाणदे सव्व ॥११॥
य आत्मान [illegible]ति, अशु[illegible] [illegible]त्त्वत भिनम् ।
ज्ञायकरू[illegible] [illegible]ति सर्वम् ॥११॥

२४९ (किन्तु) सम्यक्त्वरूपी रत्न से शून्य अनेक प्रकार के शास्त्रों के ज्ञाता व्यक्ति भी आराधनाविहीन होने से ससार में अर्थात् नरकादिक गतियो में भ्रमण करते रहते ह ।

२५०-२५१ जिस व्यक्ति में परमाणुभर भी रागादि भाव विद्यमान है, वह समस्त आगम का ज्ञाता होते हुए भी आत्मा को नही जानता । आत्मा को न जानने से अनात्मा को भी नही जानता । इस तरह जब वह जीव-अजीव तत्त्व को नही जानता, तब वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ?

२५२ जिससे तत्त्व का ज्ञान होता है, चित्त का निरोध होता है तथा आत्मा विशुद्ध होती है, उसीको जिनशासन में ज्ञान कहा गया है ।

२५३ जिससे जीव राग विमुख होता है, श्रेय मे अनुरक्त होता है और जिससे मैत्रीभाव प्रभावित होता (बढता) है, उसीको जिनशासन में ज्ञान कहा गया है ।

२५४ जो आत्मा को अबद्धस्पृष्ट (देहकर्मातीत) अनन्य (अन्य से रहित), अविशेष (विशेष से रहित) तथा आदि-मध्य और अन्तविहीन (निर्विकल्प) देखता है, वही समग्र जिनशासन को देखता है ।

२५५ जो आत्मा को इस अपवित्र शरीर मे तत्त्वत भिन्न तथा ज्ञायक-भावरूप जानता है, वही समस्त शास्त्रों को जानता है ।

२५६ सुद्धं तु वियाणंतो, सुद्धं चेवप्पयं लहइ जीवो ।
जाणंतो दु असुद्धं, असुद्धमेवप्पयं लहइ ॥१२॥
शुद्धं तु विजानन्, शुद्धं चैवात्मानं लभते जीवः ।
जानंस्त्वशुद्धमशुद्धमेवात्मानं लभते ॥१२॥

२५७ जे अज्झत्थं जाणइ, से बहिया जाणइ ।
जे बहिया जाणइ, से अज्झत्थं जाणइ ॥१३॥
योऽध्यात्मं जानाति, स बहिर्जानाति ।
यो बहिर्जानाति, सोऽध्यात्मं जानाति ॥१३॥

२५८ जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ ।
जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ ॥१४॥
य एकं जानाति, स सर्वं जानाति ।
यः सर्वं जानाति, स एकं जानाति ॥१४॥

२५९ एदम्हि रदो णिच्चं, संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि ।
एदेण होहि तित्तो, होहिदि तुह उत्तमं सोक्खं ॥१५॥
एतस्मिन् रतो नित्यं, सन्तुष्टो भव नित्यमेतस्मिन् ।
एतेन भव तृप्तो, भविष्यति तवोत्तमं सौख्यम् ॥१५॥

२६० जो जाणदि अरहंतं, दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥१६॥
यो जानात्यर्हन्तं, द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वैः ।
स जानात्यात्मानं, मोहः खलु याति तस्य लयम् ॥१६॥

२६१ लद्धूणं णिहिं एक्को, तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्ते ।
तह णाणी णाणणिहिं, भुंजेइ चइत्तु परतत्तिं ॥१७॥
लब्ध्वा निधिमेकस्तस्य फलमनुभवति सुजनत्वेन ।
तथा ज्ञानी ज्ञाननिधिं, भुङ्क्ते त्यक्त्वा परतृप्तिम् ॥१७॥

२५६ जो जीव आत्मा को शुद्ध जानता है वही शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है और जो आत्मा को अशुद्ध अर्थात् देहादियुक्त जानता है वह अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त होता है।

२५७ जो अध्यात्म को जानता है वह बाह्य (भौतिक) को जानता है। जो बाह्य को जानता है वह अध्यात्म को जानता है। (इस प्रकार बाह्याभ्यन्तर एक-दूसरे के सहवर्ती है।)

२५८ जो एक (आत्मा) को जानता है वह सब (जगत्) को जानता है। जो सबको जानता है, वह एक को जानता है।

२५९ (अत हे भव्य !) तू इस ज्ञान मे सदा लीन रह। इसीमें सदा सतुष्ट रह। इसीसे तृप्त हो। इसीसे तुझे उत्तमसुख (परमसुख) प्राप्त होगा।

२६० जो अर्हत भगवान् को द्रव्य गुण-पर्याय की अपेक्षा से (पूर्ण-रूपेण) जानता है, वही आत्मा को जानता है। उसका मोह निश्चय ही विलीन हो जाता है।

२६१ जैसे कोई व्यक्ति निधि प्राप्त होने पर उसका उपभोग स्वजनो के बीच करता है, वैसे ही ज्ञानीजन प्राप्त ज्ञान निधि का उपभोग पर-द्रव्यो मे विलग होकर अपने मे ही करता है।

२० सम्यक्चारित्रसूत्र

(अ) व्यवहारचारित्र

२६२ ववहारणयचरित्ते, ववहारणयस्स होदि तवचरणं।
णिच्छयणयचारित्ते, तवचरणं होदि णिच्छयदो ॥१॥
व्यवहारनयचरित्रे, व्यवहारनयस्य भवति तपश्चरणम्।
निश्चयनयचारित्रे, तपश्चरणं भवति निश्चयतः ॥१॥

२६३ असुहादो विणिवित्ती, सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं, ववहारणया दु जिणभणियं ॥२॥
अशुभाद्विनिवृत्तिः, शुभे प्रवृत्तिश्च जानीहि चारित्रम्।
व्रतसमितिगुप्तिरूपं, व्यवहारनयात् तु जिनभणितम् ॥२॥

२६४ सुयनाणम्मि वि जीवो, वट्टंतो सो न पाउणति मोक्खं।
जो तवसंजममइए, जोगे न चएइ वोढुं जे ॥३॥
श्रुतज्ञानेऽपि जीवो, वर्तमानः स न प्राप्नोति मोक्षम्।
यस्तपः संयममयान्, योगान् न शक्नोति वोढुम् ॥३॥

२६५ सक्किरियाविरहातो, इच्छितसंपावयं ण नाणं ति।
मग्गण्णू वाऽचेट्ठो, वातविहीणोऽधवा पोतो ॥४॥
सत्क्रियाविरहात् ईप्सितसंप्रापकं न ज्ञानमिति।
मार्गज्ञो वाऽचेष्टो, वातविहीनोऽथवा पोतः ॥४॥

२६६ सुबहुं पि सुयमहीयं किं काहिइ चरणविप्पहीणस्स।
अंधस्स जह पलित्ता, दीवसयसहस्सकोडी वि ॥५॥
सुबह्वपि श्रुतमधीतं, किं करिष्यति चरणविप्रहीणस्य।
अन्धस्य यथा प्रदीप्ता, दीपशतसहस्रकोटिरपि ॥५॥

२६७ थोवम्मि सिक्खिदे जिणइ, बहुसुदं जो चरित्तसंपुण्णो।
जो पुण चरित्तहीणो, किं तस्स सुदेण बहुएण ॥६॥
स्तोके शिक्षिते जयति, बहुश्रुतं यश्चारित्रसम्पूर्णः।
यः पुनश्चारित्रहीनः, किं तस्य श्रुतेन बहुकेन ॥६॥

२० सम्यक्चारित्रसूत्र

(अ) व्यवहारचारित्र

२६२ व्यवहारनय के चारित्र में व्यवहारनय का तपश्चरण होता है। निश्चयनय के चारित्र में निश्चयरूप तपश्चरण होता है।

२६३ अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति ही व्यवहारचारित्र है, जो पाँच व्रत, पाच समिति व तीन गुप्ति के रूप में जिनदेव द्वारा प्ररूपित है। [इस तेरह प्रकार के चारित्र का कथन आगे यथास्थान किया गया है।]

२६४ श्रुतज्ञान में निमग्न जीव भी यदि तप-सयमरूप योग को धारण करने में असमर्थ हो तो मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।

२६५ (शास्त्र द्वारा मोक्षमार्ग को जान लेने पर भी) सत्क्रिया से रहित ज्ञान इष्ट लक्ष्य प्राप्त नही करा सकता। जैसे मार्ग का जानकार पुरुष इच्छित देश की प्राप्ति के लिए समुचित प्रयत्न न करे तो वह गन्तव्य तक नहीं पहुँच सकता अथवा अनुकूल वायु की प्रेरणा के अभाव में जलयान इच्छित स्थान तक नही पहुँच सकता।

२६६ चारित्रशून्य पुरुष का विपुल शास्त्राध्ययन भी व्यर्थ ही है, जैसे कि अंधे के आगे लाखो-करोडो दीपक जलाना व्यर्थ है।

२६७ चारित्रसम्पन्न का अल्पतम ज्ञान भी बहुत है और चारित्र-विहीन का बहुत श्रुतज्ञान भी निष्फल है।

(आ) निश्चयचारित्र

२६८ णिच्छयणयस्स एव, अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो ।
सो होदि हु सुचरित्तो, जोई सो लहइ णिव्वाण ॥७॥
निश्चयनयस्य एव, आत्मा आत्मनि आत्मने सुरत ।
स भवति खलु सुचरित्र , योगी स लभते निर्वाणम् ॥७॥

२६९ ज जाणिऊण जोई, परिहार कुणइ पुण्णपावाण ।
त चारित्त भणिय, अवियप्प कम्मरहिएहि ॥८॥
यद् ज्ञात्वा योगी, परिहार करोति पुण्यपापानाम् ।
तत् चारित्र भणितम्, अविकल्प कर्मरहितै ॥८॥

२७० जो परदव्वम्मि सुह, असुह रागेण कुणदि जदि भाव ।
सो सगचरित्तभट्ठो, परचरियचरो हवदि जीवो ॥९॥
य परद्रव्ये शुभमशुभ, रागेण करोति यदि भावम् ।
स स्वकचरित्रभ्रष्ट , परचरितचरो भवति जीव ॥९॥

२७१ जो सव्वसगमुक्कोऽणण्णमणो अप्पण सहावेण ।
जाणदि पस्सदि णियद, सो सगचरिय चरदि जीवो ॥१०॥
य सर्वसगमुक्त , अनन्यमना आत्मान स्वभावेन ।
जानाति पश्यति नियत, स स्वकचरित चरति जीव ॥१०॥

२७२ परमट्ठम्हि दु अठिदो, जो कुणदि तव वद च धारेई ।
त सव्व बालतव, बालवद बिति सव्वण्हू ॥११॥
परमार्थे त्वस्थित , य करोति तपो व्रत च धारयति ।
तत् सर्वं बालतपो, बालव्रत ब्रुवन्ति सर्वज्ञा ॥११॥

२७३ मासे मासे तु जो बालो, कुसग्गेण तु भुजए ।
न सो सुयक्खायधम्मस्स, कल अग्घइ सोलसि ॥१२॥
मासे मासे तु यो बाल , कुशाग्रेण तु भुङ्क्ते ।
न स स्वाख्यातधर्मस्य, कलामर्घति षोडशीम् ॥१२॥

(आ) निश्चयचारित्र

२६८ निश्चयनय के अभिप्रायानुसार आत्मा का आत्मा मे आत्मा के लिए तन्मय होना ही (निश्चय-) सम्यक्चारित्र है। ऐसे चारित्रशील योगी को ही निर्वाण की प्राप्ति होती है।

२६९ जिसे जानकर योगी पाप व पुण्य दोनो का परिहार कर देता है, उसे ही कर्मरहित निर्विकल्प चारित्र कहा गया है।

२७० जो राग के वशीभूत होकर पर द्रव्यो में शुभाशुभ भाव करता है वह जीव स्वकीय चारित्र से भ्रष्ट परचरिताचारी होता है।

२७१ जो परिग्रह मुक्त तथा अनन्यमन होकर आत्मा का ज्ञानदर्शन-मय स्वभावरूप जानता-देखता है, वह जीव स्वकीयचरिता-चारी है।

२७२ जो (इस प्रकार के) परमार्थ में स्थित नही है, उसके तपश्चरण या व्रताचरण आदि सबको सर्वज्ञदेव ने बालतप और बालव्रत कहा है।

२७३ जो बाल (परमार्थशून्य अज्ञानी) महीने महीने में तप करता है और (पारणा मे) कुश के अग्रभाग जितना (नाममात्र का) भोजन करता है, वह सुआख्यात धर्म की सोलहवी कला को भी नहीं पा सकता।

२७४ चारित्त खलु धम्मो, धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हु समो ॥१३॥
चारित्रं खलु धर्मो, धर्मो यः स सम इति निर्दिष्टः ।
मोहक्षोभविहीनः, परिणाम आत्मनो हि समः ॥१३॥

२७५ समदा तह मज्झत्थं, सुद्धो भावो य वीयरायत्तं ।
तह चारित्तं धम्मो, सहावआराहणा भणिया ॥१४॥
समता तथा माध्यस्थ्यं, शुद्धो भावश्च वीतरागत्वम् ।
तथा चारित्रं धर्मः, स्वभावाराधना भणिता ॥१४॥

२७६ सुविदिदपयत्थसुत्तो, संजमतवसंजुदो विगदरागो ।
समणो समसुहदुक्खो, भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ॥१५॥
सुविदितपदार्थसूत्रः, संयमतपःसंयुतो विगतरागः ।
श्रमणः समसुखदुःखो, भणितः शुद्धोपयोग इति ॥१५॥

२७७ सुद्धस्स य सामण्णं, भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं ।
सुद्धस्स य णिव्वाणं, सो च्चिय सिद्धो णमो तस्स ॥१६॥
शुद्धस्य च श्रामण्यं, भणितं शुद्धस्य दर्शनं ज्ञानम् ।
शुद्धस्य च निर्वाणं, स एव सिद्धो नमस्तस्मै ॥१६॥

२७८ अइसयमादसमुत्थं, विसयातीदं अणोवममणंतं ।
अव्वुच्छिन्नं च सुहं, सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं ॥१७॥
अतिशयमात्मसमुत्थं, विषयातीतमनुपममनन्तम् ।
अव्युच्छिन्नं च सुखं, शुद्धोपयोगप्रसिद्धानाम् ॥१७॥

२७९ जस्स ण विज्जदि रागो, दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु ।
णाऽऽसवदि सुहं असुहं, समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स ॥१८॥
२७९ यस्य न विद्यते रागो, द्वेषो मोहो वा सर्वद्रव्येषु ।
नाऽऽस्रवति शुभमशुभं, समसुखदुःखस्य भिक्षोः ॥१८॥

(ङ) समन्वय

२८० णिच्छय सज्झसरूवं, सरायं तस्सेव साहणं चरणं ।
तम्हा दो वि य कमसो, पडिच्छमाणं पबुज्झेह ॥१९॥
निश्चयः साध्यस्वरूपं, सरागं तस्यैव साधनं चरणम् ।
तस्मात् द्वे अपि च क्रमशः, प्रतीष्यमाणं प्रबुध्यध्वम् ॥१९॥

२७४ वास्तव मे चारित्र ही धर्म है । इस धर्म को शमरूप कहा गया है । मोह व क्षोभ से रहित आत्मा का निर्मल परिणाम ही शम या समतारूप है ।

२७५ समता, माध्यस्थभाव, शुद्धभाव, वीतरागता, चारित्र, धर्म और स्व-भाव आराधना—ये सब शब्द एकार्थक है ।

२७६ जिसने (स्व-द्रव्य व पर-द्रव्य के भेदज्ञान के श्रद्धान तथा आचरण द्वारा) पदार्थो तथा सूत्रो को भलीभाँति जान लिया है, जो सयम और तप से युक्त है, विगतराग है, सुख-दु ख म समभाव रखता है, उसी श्रमण को शुद्धोपयोगी कहा जाता है ।

२७७ (ऐसे) शुद्धोपयोग के ही श्रामण्य कहा गया है । उसीके दर्शन और ज्ञान कहा गया है । उसीका निर्वाण होता है। वही सिद्धपद प्राप्त करता है । उसे मै नमन करता हूँ ।

२७८ शुद्धोपयोग से सिद्ध होनेवाली आत्माओ का अतिशय, आत्मोत्पन्न, विषयातीत अर्थात् अतीन्द्रिय, अनुपम, अनन्त और अविनाशी सुख (प्राप्त) है ।

२७९ जिसका समस्त द्रव्यो के प्रति राग, द्वेष और मोह नहीं है तथा जो सुख-दु ख में समभाव रखता है, उस भिक्षु के शुभाशुभ कर्मो का आस्रव नही होता ।

(इ) समन्वय

२८० निश्चयचारित्र तो साध्य-रूप है तथा सराग (व्यवहार) -चारित्र उसका साधन है साधन तथा साध्यस्वरूप दोनो चारित्र को क्रमपूर्वक धारण करने पर जीव प्रबोध को प्राप्त होता है ।

२८१ अब्भतरसोधीए, वाहिरसोधी वि होदि णियमेण ।
अब्भतर-दोसेण हु, कुणदि णरो वाहिरे दोसे ॥२०॥
अभ्यन्तरशुद्ध्या, वाह्यशुद्धिरपि भवति नियमेन ।
अभ्य तरदोपेण हि, करोति नर वाह्यान् दोपान् ॥२०॥

२८२ मदमाणमायलोह–विवज्जियभावो दु भावसुद्धि त्ति ।
परिकहिय भव्वाण, लोयालोयप्पदरिसीहिं ॥२१॥
मदमानमायालोभ विवर्जितभावस्तु भावशुद्धिरिति ।
परिकथित भव्याना, लोकालोक प्रदर्शिभि ॥२१॥

२८३ चत्ता पावारम, समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्हि ।
ण जहदि जदि मोहादी, ण लहदि सो अप्पग सुद्ध ॥२२॥
त्यक्त्वा पापारम्भ, समुत्थितो वा शुभे चरिते ।
न जहाति यदि मोहादीन् न लभते स आत्मक शुद्धम् ॥२२॥

२८४ जह य णिरुद्ध असुह, सुहेण सुहमवि तहेव सुद्धेण ।
तम्हा एण कमेण य, जोई झाएउ णियआद ॥२३॥
यथैव निरुद्धम् अशुभ, शुभेन शुभमपि तथैव शुद्धेन ।
तस्मादनेन क्रमेण च, योगी ध्यायतु निजात्मानम् ॥२३॥

२८५ निच्छयनयस्स चरणाय–विघाए नाणदसणवहोऽवि ।
ववहारस्स उ चरणे, हयम्मि भयणा हु सेसाण ॥२४॥
निश्चयनयस्य चरणात्म विघाते ज्ञानदर्शनवधोऽपि ।
व्यवहारस्य तु चरणे, हते भजना खलु शेपया ॥२४॥

२८६–२८७ सद्ध नगर किच्चा, तवसवरमग्गल ।
खन्ति निउणपागार, तिगुत्त दुप्पधसय ॥२५॥
तवनारायजुत्तेण, भित्तूण कम्मकचुय ।
मुणी विगयसगामो, भवाओ परिमुच्चए ॥२६॥
श्रद्धा नगर कृत्वा, तप सवरमगलाम् ।
क्षान्ति निपुणप्राकार, त्रिगुप्त दुष्प्रधपकम् ॥२५॥
तपोनाराचयुक्तेन, भित्वा कर्मकञ्चुकम् ।
मुनिर्विगतसग्राम, भवान् परिमुच्यते ॥२६॥

।

२८१ आभ्यंतर-शुद्धि होने पर बाह्य-शुद्धि भी नियमत होती ही है। आभ्यंतर-दोष से ही मनुष्य बाह्य दोष करता है।

२८२ मद, मान, माया और लोभ से रहित भाव ही भावशुद्धि है, ऐसा लोकालोक के ज्ञाता-द्रष्टा सर्वज्ञदेव का भव्यजीवो के लिए उपदेश है।

२८३ पाप-आरम्भ (प्रवृत्ति) को त्यागकर शुभ अर्थात् व्यवहार-चारित्र में आरूढ रहने पर भी यदि जीव मोहादि भावो से मुक्त नही होता है तो वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त नही करता।

२८४ (इसीलिए कहा गया है कि) जैसे शुभ चारित्र के द्वारा अशुभ (प्रवृत्ति) का निरोध किया जाता है, वैसे ही शुद्ध (-उपयोग) के द्वारा शुभ (प्रवृत्ति) का निरोध किया जाता है। अतएव इसी क्रम से—व्यवहार और निश्चय के पूर्वापर क्रम से—योगी आत्मा का ध्यान करे।

२८५ निश्चयनय के अनुसार चारित्र (भावशुद्धि) का घात होने पर ज्ञान-दर्शन का भी घात हो जाता है, परन्तु व्यवहारनय के अनुसार चारित्र का घात होने पर ज्ञान-दर्शन का घात हो भी सकता है, नही भी हो सकता। (वस्तुत ज्ञान-दर्शन की व्याप्ति भावशुद्धि के साथ है, बाह्य क्रिया के साथ नहीं।)

२८६-२८७ श्रद्धा को नगर, तप और सवर को अगला, क्षमा को (बुर्ज, खाई, और शतघ्नीस्वरूप) त्रिगुप्ति (मन-वचन-काय) से सुरक्षित, तथा अजेय सुदृढ प्राकार बनाकर तपरूप बाणो से युक्त धनुष से कर्म-कवच को भेदकर (आतरिक) सग्राम का विजेता मुनि ससार से मुक्त होता है।

२१ साधनासूत्र

२८८ आहारासण णिद्दाजय, च काऊण जिणवरमएण ।
झायव्वो णियअप्पा, णाऊण गुरुपसाएण ।।१।।
आहारासन-निद्राजय, च कृत्वा जिनवरमतेन ।
ध्यातव्य निजात्मा, ज्ञात्वा गुरुप्रसादेन ।।१।।

२८९ नाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अण्णाणमोहस्स विवज्जणाए ।
रागस्स दोसस्स य सखएण, एगतसोक्ख समुवेइ मोक्ख ।।२।।
ज्ञानस्य सर्वस्य प्रकाशनया, अज्ञानमोहस्य विवजनया ।
रागस्य द्वेपस्य च सक्षयेण, एकान्तसौख्य समुपैति मोक्षम् ।।२।।

२९० तस्सेस मग्गो गुरुविद्धसेवा, विवज्जणा बालजणस्स दूरा ।
सज्झायएगतनिवेसणा य, सुत्तत्थ सचितणया धिई य ।।३।।
तस्यैप मार्गो गुरुवृद्धसेवा, विवजना बालजनस्य दूरात् ।
स्वाध्यायैकान्तनिवेशना च, सूत्रार्थसचिन्तनता धृतिश्च ।।३।।

२९१ आहारमिच्छे मियमेसणिज्ज, सहायमिच्छे निउणत्थवुद्धि ।
निकेयमिच्छेज्ज विवेगजोग्ग समाहिकामे समणे तवस्सी ।।४।।
आहारमिच्छेद् मितमेपणीय, सखायमिच्छेद् निपुणार्थबुद्धिम् ।
निकेतमिच्छेद् विवेकयोग्य, समाधिकाम श्रमणस्तपस्वी ।।४।।

२९२ हियाहारा मियाहारा, अप्पाहारा य जे नरा ।
न ते विज्जा तिगिच्छति, अप्पाण ते तिगिच्छगा ।।५।।
हिताहारा मिताहारा अल्पाहारा च ये नरा ।
न तान् वैद्या चिकित्सन्ति आत्मान ते चिकित्सका ।।५।।

२९३ रसा पगाम न निसेवियव्वा, पाय रसा दित्तिकरा नराण ।
दित्त च कामा समभिद्दवति, दुम जहा साउफल व पक्खी ।।६।।
रसा प्रकाम न निपेवितव्या, प्रायो रसा दीप्तिकरा नराणाम् ।
दीप्त च कामा समभिद्रवन्ति, द्रुम यथा स्वादुफलमिव पक्षिण ।।६।।

२८८ जिनदेव के मतानुसार आहार, आसन तथा निद्रा पर विजय प्राप्त करके गुरुप्रसाद से ज्ञान प्राप्त कर निजात्मा का ध्यान करना चाहिए ।

२८९ सम्पूर्णज्ञान के प्रकाशन से, अज्ञान और मोह के परिहार से तथा राग-द्वेष के पूर्णक्षय से जीव एकान्त सुख अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है ।

२९० गुरु तथा वृद्ध-जनो की सेवा करना, अज्ञानी लोगो के सम्पर्क से दूर रहना, स्वाध्याय करना, एकान्तवास करना, सूत्र और अर्थ का सम्यक् चिन्तन करना तथा धैर्य रखना—ये (दु खो से मुक्ति के) उपाय है ।

२९१ समाधि का अभिलाषी तपस्वी श्रमण परिमित तथा एषणीय आहार की ही इच्छा करे, तत्त्वार्थ में निपुण (प्राज्ञ) साथी को ही चाहे तथा विवेकयुक्त अर्थात् विविक्त (एकान्त) स्थान में ही निवास करे ।

२९२ जो मनुष्य हित मित तथा अल्प आहार करते है, उन्हे कभी वैद्य से चिकित्सा कराने की आवश्यकता ही नही पडती । वे तो स्वय अपने चिकित्सक होते है । अपनी अन्तर्शुद्धि में लगे रहते है ।

२९३ रसो का अत्यधिक सेवन नही करना चाहिए । रस प्राय उन्मादवर्धक होते है—पुष्टिवर्धक होते है । मदाविष्ट या विषयासक्त मनुष्य को काम वैसे ही सताता या उत्पीडित करता है जैसे स्वादिष्ट फलवाले वृक्ष को पक्षी ।

२९४ विवित्तसेज्जाऽऽसणजंतियाणं, ओमाऽसणाणं दमिइंदियाणं ।
न रागसत्तू धरिसेइ चित्तं, पराइओ वाहिरिवोसहेहिं ॥७॥
विविक्तशय्याऽऽसनयन्त्रितानाम्, अवमोऽशनानां दमितेन्द्रियाणाम्
न रागशत्रुर्धर्षयति चित्तं, पराजितो व्याधिरिवौषधैः ॥७॥

२९५ जरा जाव न पीलेइ, वाही जाव न वड्ढई ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥८॥
जरा यावत् न पीडयति, व्याधिः यावत् न वर्द्धते ।
यावदिन्द्रियाणि न हीयन्ते, तावत् धर्मं समाचरेत् ॥८॥

२२ द्विविध धर्मसूत्र

२९६ दो चेव जिणवरेहिं, जाइजरामरणविप्पमुक्केहिं ।
लोगम्मि पहा भणिया, सुस्समण सुसावगो वा वि ॥१॥
द्वौ चैव जिनवरेन्द्रैः जातिजरामरणविप्रमुक्तैः ।
लोके पथौ भणितौ, सुश्रमणः सुश्रावकः चापि ॥१॥

२९७ दाणं पूया मुक्खं, सावयधम्मे ण सावया तेण विणा ।
झाणाज्झयणं मुक्खं, जइधम्मे तं विणा तहा सो वि ॥२॥
दानं पूजा मुख्यः, श्रावकधर्मे न श्रावकाः तेन विना ।
ध्यानाध्ययनं मुख्यो, यतिधर्मे तं विना तथा सोऽपि ॥२॥

२९८ सन्ति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा ।
गारत्थेहिं य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा ॥३॥
सन्त्येकेभ्यो भिक्षुभ्यः, अगारस्थाः संयमोत्तराः ।
अगारस्थेभ्यश्च सर्वेभ्यः, साधवः संयमोत्तराः ॥३॥

२९९ नो खलु अहं तहा, संचाएमि मुंडे जाव पव्वइत्तए ।
अहं णं देवाणुप्पियाणं, अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं
दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामि ॥४॥
नो खल्वहं तथा शक्नोमि मुण्डो यावत् प्रव्रजितुम् ।
अहं खलु देवानुप्रियाणाम् अन्तिके पञ्चानुव्रतिकम् सप्तशिक्षा-
व्रतिकं द्वादशविधम् गृहिधर्मं प्रतिपत्स्ये ॥४॥

२९४ जो विविक्त (स्त्री आदि से रहित) शय्यासन मे नियन्त्रित (युक्त) है, अल्प-आहारी है और दमितेन्द्रिय है, उसके चित्त को राग-द्वेषरूपी विकार पराजित नही कर सकते, जैसे औषधि से पराजित या विनष्ट व्याधि पुन नही सताती ।

२९५ जब तक बुढापा नही सताता, जब तक व्याधियाँ (रोगादि) नही बढती और इन्द्रिया अशक्त (अक्षम) नही हो जाती, तब तक (यथाशक्ति) धर्माचरण कर लेना चाहिए । (क्योकि बाद मे अशक्त एव असमर्थ देहेन्द्रिया से धर्माचरण नही हो सकेगा ।)

२२ द्विविध धर्मसूत्र

२९६ जन्म-जरा मरण से मुक्त जिनेन्द्रदेव ने इस लोक मे दो ही मार्ग बतलाये है—एक है उत्तम श्रमणो का और दूसरा है उत्तम श्रावको का ।

२९७ श्रावक धर्म मे दान और पूजा मुख्य है जिनके बिना श्रावक नही होता तथा श्रमण धर्म मे ध्यान व अध्ययन मुख्य है, जिनके बिना श्रमण नही होता ।

२९८ यद्यपि शुद्धाचारी साधुजन सभी गृहस्थो से सयम मे श्रेष्ठ होते है, तथापि कुछ (शिथिलाचारी) भिक्षुओ की अपेक्षा गृहस्थ सयम मे श्रेष्ठ होते है ।

२९९ जो व्यक्ति मुण्डित (प्रव्रजित) होकर अनगारधर्म स्वीकार करने मे असमर्थ होता है, वह जिनेन्द्रदेव द्वारा प्ररूपित श्रावक-धर्म को अगीकार करता है ।

३०० पंच य अणुव्वयाइ, सत्त उ सिक्खा उ देसजइधम्मो ।
सव्वेण व देसेण व, तेण जुओ होइ देसजई ॥५॥
पञ्च च अनुव्रतानि, सप्त तु शिक्षा देशयतिधर्म ।
सर्वेण वा देशेन वा, तेन युतो भवति देशयति ॥५॥

२३ श्रावकधर्मसूत्र

३०१ संपत्तदंसणाई, पइदियह जइजणा सुणेई य ।
सामायारिं परम जो, खलु त सावग बिंति ॥१॥
संप्राप्तदर्शनादि, प्रतिदिवस यतिजनाच्छृणोति च ।
सामाचारी परमा य, खलु त श्रावक ब्रुवते ॥१॥

३०२ पंचुंबरसहियाइ, सत्त वि विसणाई जो विवज्जेइ ।
सम्मत्तविसुद्धमई, सो दसणसावओ भणिओ ॥२॥
पञ्चोदुम्बरसहितानि सप्त अपि व्यसनानि य विवर्जयति ।
सम्यक्त्वविशुद्धमति स दर्शनश्रावक भणित ॥२॥

३०३ इत्थी जूय मज्ज, मिगव्व वयणे तहा फरुसया य ।
दडफरुसत्तमत्थस्स दूसण सत्त वसणाइ ॥३॥
स्त्री द्यूत मद्य, मृगया वचने तथा परुषता च ।
दण्डपरुषत्वम् अर्थस्य दूषण सप्त व्यसनानि ॥३॥

३०४ मासासणेण वड्ढइ दप्पो दप्पेण मज्जमहिलसइ ।
जूय पि रमइ तो त, पि वण्णिए पाउणइ दोसे ॥४॥
मांसाशनेन वर्धते दर्प दर्पेण मद्यम् अभिलषति ।
द्यूतम् अपि रमते तत तद् अपि वर्णितान् प्राप्नोति दोषान् ॥४॥

३०५ लोइयसत्थम्मि वि, वण्णिय जहा गयणगामिणो विप्पा ।
भुवि मंसासणेण पडिया, तम्हा ण पउजए मंस ॥५॥
लौकिकशास्त्रे अपि वर्णितम् यथा गगनगामिन विप्रा ।
भुवि मांसाशनेन पतिता तस्माद् न प्रयोजयेद् मांसम् ॥५॥

३०० श्रावकधर्म या श्रावकाचार में पाँच व्रत तथा सात शिक्षाव्रत होते हैं। जो व्यक्ति इन सबका या इनमें से कुछ का आचरण करता है, वह श्रावक कहलाता है।

२३ श्रावकधर्मसूत्र

३०१ जो सम्यग्दृष्टि व्यक्ति प्रतिदिन यतिजनों से परम सामाचारी (आचार-विषयक उपदेश) श्रवण करता है, उसे श्रावक कहते हैं।

३०२ पाँच उदुम्बर फल (उमर, कठूमर, गूलर, पीपल तथा वड) के साथ-साथ सात व्यसनों का त्याग करनेवाला वह व्यक्ति 'दार्शनिक श्रावक' कहा जाता है, जिसकी मति सम्यग्दर्शन से विशुद्ध हो गयी है।

३०३ परस्त्री का सहवास, द्यूत-क्रीडा, शिकार, वचन परुषता, कठोर दण्ड तथा अर्थ-दूषण (चोरी आदि) ये सात व्यसन हैं। (श्रावक इनका त्याग करता है।)

३०४ मांसाहार से दर्प बढ़ता है। दर्प से मनुष्य में मद्यपान की अभिलाषा जागती है और तब वह जुआ भी खेलता है। इस प्रकार (एक मांसाहार से ही) मनुष्य उक्त वर्णित सब दोषों का भाजन (घर) बन जाता है।

३०५ लौकिक शास्त्र में भी यह उल्लेख मिलता है कि मांस खाने से आकाश में विहार करनेवाला विप्र भूमि पर गिर पड़ा, अर्थात् पतित हो गया। अतएव मांस का सेवन (कदापि) नहीं करना चाहिए।

३०६ मज्जेण णरो अवसो, कुणेइ कम्माणि णिंदणिज्जाइं ।
इहलोए परलोए, अणुहवइ अणंतयं दुक्खं ॥६॥
मद्येन नरः अवशः करोति कर्माणि निन्दनीयानि ।
इहलोके परलोके अनुभवति अनन्तकं दुःखम् ॥६॥

३०७ संवेगजणिदकरणा, णिस्सल्ला मंदरो व्व णिक्कंपा ।
जस्स दढा जिणभत्ती, तस्स भयं णत्थि संसारे ॥७॥
संवेगजनितकरणा, निःशल्या मन्दर इव निष्कम्पा ।
यस्य दृढा जिनभक्तिः, तस्य भयं नास्ति संसारे ॥७॥

३०८ सत्तू वि मित्तभावं, जम्हा उवयाइ विणयसीलस्स ।
विणओ तिविहेण तओ, कायव्वो देसविरएण ॥८॥
शत्रुः अपि मित्रभावम् यस्मात् उपयाति विनयशीलस्य ।
विनयः त्रिविधेन ततः कर्तव्यः देशविरतेन ॥८॥

३०९ पाणिवहमुसावाए, अदत्तपरदारनियमणेहिं च ।
अपरिमिइच्छाओऽवि य, अणुव्वयाइं विरमणाइं ॥९॥
प्राणिवधमृषावादा-दत्तपरदारनियमनैश्च ।
अपरिमितेच्छातोऽपि च, अणुव्रतानि विरमणानि ॥९॥

३१० वधवहच्छविच्छेए, अइभारे भत्तपाणवुच्छेए ।
कोहाइदूसियमणो, गोमणुयाईण नो कुज्जा ॥१०॥
वधबन्धच्छविच्छेदान्, अतिभारान् भक्तपानव्युच्छेदान् ।
क्रोधादिदूषितमनाः, गोमनुष्यादीनां न कुर्यात् ॥१०॥

३११ थूलमुसावायस्स उ, विरई दुच्चं, स पंचहा होइ ।
कन्नागोभुआलिय - नासहरण - कूडसक्खिज्जे ॥११॥
स्थूलमृषावादस्य तु विरतिः द्वितीयं स पञ्चधा भवति ।
कन्यागोभूम्यलीक-न्यासहरण-कूटसाक्ष्याणि ॥११॥

३१२ सहसा अब्भक्खाणं, रहसा य सदारमंतभेयं च ।
मोसोवएसयं, कूडलेहकरणं च वज्जिज्जा ॥१२॥
सहसाभ्याख्यानं, रहसा च स्वदारमन्त्रभेदं च ।
मृषोपदेशं कूटलेखकरणं च वर्जयेत् ॥१२॥

३०६ (मांस की तरह) मद्यपान से भी मनुष्य मदहोश होकर निन्दनीय कर्म करता है और फलस्वरूप इस लोक तथा परलोक मे अनन्त दुःखो का अनुभव करता है।

३०७ जिसके हृदय मे ससार के प्रति वैराग्य उत्पन्न करनेवाली, शल्यरहित तथा मेरुवत् निष्कम्प और दृढ जिन भक्ति है, उसे ससार म किसी तरह का भय नही है।

३०८ विनयशील व्यक्ति का शत्रु भी मित्र बन जाता है। इसलिए देशविरत या अणुव्रती श्रावक को मन-वचन-काय मे सम्यक्त्वादि गुणो की तथा गुणीजनो की विनय करना चाहिए।

३०९ प्राणि-वध (हिंसा), मृषावाद (असत्य वचन), बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण (चोरी), परस्त्री-सेवन (कुशील) तथा अपरिमित कामना (परिग्रह) इन पाँचो पापो से विरति अणुव्रत है।

३१० प्राणिवध से विरत श्रावक को—क्रोधादि कषायो से मन को दूषित करके पशु व मनुष्य आदि का बन्धन, डडे आदि से ताडन-पीडन, नाक आदि का छेदन, शक्ति से अधिक भार लादना तथा खान-पान रोकना आदि कर्म नही करने चाहिए। क्योकि ये कर्म भी हिंसा जैसे ही है। इनका त्याग स्थूल हिंसा विरति है।

३११ स्थूल (मोटे तौर पर) असत्य विरति दूसरा अणुव्रत है। (हिंसा की तरह) इसके भी पाँच भेद है—कन्या-अलीक, गो-अलीक व भू-अलीक अर्थात् कन्या, गो(पशु) तथा भूमि के विषय म झूठ बोलना, किसीकी धरोहर को दबा लेना और झूठी गवाही देना। इनका त्याग स्थूल असत्य विरति है।

३१२ (साथ ही साथ) सत्य-अणुव्रती बिना सोचे-समझे सहसा न तो कोई बात करता है, न किसीका रहस्योद्घाटन करता है, न अपनी पत्नी की कोई गुप्त बात मित्रो आदि में प्रकट करता है, न मिथ्या (अहितकारी) उपदेश करता है और न कूटलेख-क्रिया (जाली हस्ताक्षर या जाली दस्तावेज आदि) करता है।

३१३ वज्जिज्जा तेनाहड - तक्करजोग विरुद्धरज्ज च ।
कूडतुलकूडमाण, तप्पडिरूव च ववहार ॥१३॥
वर्जयेत् स्तेनाहृत, तस्करयोग विरुद्धराज्य च ।
कूटतुलाकूटमाने, तत्प्रतिरूप च व्यवहारम् ॥१३॥

३१४ इत्तरियपरिग्गहिया-ऽपरिगहियागमणा णगकीड च ।
परविवाहक्करण,* कामे तिव्वाभिलास च ॥१४॥
इत्वरपरिगृहीता-ऽपरिगृहीतागमना-नङ्गक्रीडा च ।
पर (द्वितीय) विवाहकरण, कामे तीव्राभिलाप च ॥१४॥

३१५-३१६ विरया परिग्गहाओ, अपरिमिआओ अणततण्हाओ ।
बहुदोससकुलाओ, नरयगइगमणपथाओ ॥१५॥
खित्ताइ हिरण्णाई धणाइ दुपयाइ - कुवियगस्स तहा ।
सम्म विसुद्धचित्तो, न पमाणाइक्कम कुज्जा ॥१६॥

विरता परिग्रहात्-अपरिमिताद्-अनन्ततृष्णात् ।
बहुदोपसकुलात, नरकगतिगमनपथात् ॥१५॥
क्षेत्रादे हिरण्यादे धनादे द्विपदादे कुप्यकस्य तथा ।
सम्यग्विशुद्धचित्त, न प्रमाणातिक्रम कुर्यात् ॥१६॥

३१७ भाविज्ज य सतोस, गहियमियाणि अजाणमाणेण ।
थोव पुणो न एव, गिण्हिस्सामो त्ति चितिज्जा ॥१७॥
भावयेच्च सन्तोप, गृहीतमिदानीमजानानेन ।
स्तोक पुन न एव, ग्रहीष्याम इति चिन्तयेत ॥१७॥

३१८ ज च दिसावेरमण, अणत्थदडाउ ज च वेरमण ।
देसावगासिय पि य, गुणव्वयाइ भवे ताइ ॥१८॥
यच्च दिग्विरमण, अनर्थदण्डात् यच्च विरमणम् ।
देशावकाशिकमपि च गुणव्रतानि भवेयुस्तानि ॥१८॥

---

* परो अन्नो जो विवाहो अप्पणो चेव स परविवाहो । किं भणिय होइ? भण्णइ—विसिट्ठसतोसाभावाओ अप्पणा अन्नाओ अन्नओ परिणेइ त्ति । पुण सद्दयाग सदारसतुट्ठस्स होइ ॥ —सावयधम्म पचासक चूर्णि ७६ ।

३१३ अचौर्याणुव्रती श्रावक का न चोरी का माल खरीदना चाहिए, न चोरी में प्रेरक वनना चाहिए । न ही राज्य-विरुद्ध अर्थात् टैक्स आदि की चोरी व नियम-विरुद्ध कोई कार्य करना चाहिए । वस्तुओ में मिलावट आदि नही करना चाहिए । जाली सिक्के या नोट आदि नही चलाना चाहिए ।

३१४ स्व-स्त्री में सन्तुष्ट ब्रह्मचर्याणुव्रती श्रावक को विवाहित या अविवाहित वदचलन स्त्रियो से सवथा दूर रहना चाहिए । अनग-क्रीडा नही करनी चाहिए । अपनी सन्तान के अतिरिक्त दूसरो के विवाह आदि कराने में दिलचस्पी नही लेनी चाहिए । (इसमें यह अथ भी निहित है कि अपना भी 'पर' यानी दूसरा विवाह नही करना चाहिए ।) काम-सेवन की तीव्र लालसा का त्याग करना चाहिए ।

३१५–३१६ अपरिमित परिग्रह अनन्ततष्णा का कारण है, वह वहुत दोषयुक्त है तथा नरकगति का माग है । अत परिग्रह-परिमाणाणुव्रती विशुद्धचित्त श्रावक को क्षेत्र-मकान, सोना-चाँदी, धन धान्य, द्विपद-चतुष्पद तथा भण्डार (सग्रह) आदि परिग्रह के अगीकृत परिमाण का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए ।

३१७ उसे सन्तोष रखना चाहिए । उसे ऐसा विचार नहीं करना चाहिए कि 'इस समय मैंने विना जाने थोडा परिमाण किया, आगे आवश्यक होने पर पुन अधिक ग्रहण कर लूँगा ।'

३१८ श्रावक के सात शील व्रता में ये तीन गुणव्रत होते ह—दिशा-विरति, अनथदण्डविरति तथा देशावकाशिक ।

३२६ सावज्जजोगपरिरक्खणट्ठा, सामाइय केवलिय पसत्य ।
गिहत्थधम्मा परम ति नच्चा, कुज्जा बुहो आयहिय परत्था ।।२६।।
सावद्ययोगपरिरक्षणाय , सामायिक केवलिक प्रशस्तम् ।
गृहस्थधर्मात् परममिति ज्ञात्वा, कुर्याद् बुध आत्महित परत्र।।२६।।

३२७ सामाइयम्मि उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा ।
एएण कारणेण, बहुसो सामाइय कुज्जा ।।२७।।
सामायिके तु कृते, श्रमण इव श्रावको भवति यस्मात् ।
एतेन कारणेन, बहुश सामायिक कुर्यात् ।।२७।।

३२८ सामाइय ति काउ, परचित जो उ चितई सड्ढो ।
अट्टवसट्टोवगओ, निरत्थय तस्स सामाइय ।।२८।।
सामायिकमिति कृत्वा, परचिन्ता यस्तु चिन्तयति श्राद्ध ।
आर्तवशार्तोपगत , निरर्थक तस्य सामायिकम् ।।२८।।

३२९ आहारदेहसक्कार-बभाऽवावारपोसहो य ऽण ।
देसे सव्वे य इम, चरमे सामाइय णियमा ।।२९।।
आहारदेहसत्कार-ब्रह्मचर्यमव्यापारपोषध च ।
देशे सर्वस्मिन् च इद, चरमे सामायिक नियमात ।।२९।।

३३० अन्नाईण सुद्धाण, कप्पणिज्जाण देसकालजुत्त ।
दाण जईणमुचिय, गिहीण सिक्खावय भणिय ।।३०।।
अन्नादीना शुद्धाना, कल्पनीयाना देशकालयुतम् ।
दान यतिभ्य उचित, गृहिणा शिक्षाव्रत भणितम् ।।३०।।

३३१ आहारोसह-सत्थाभय-भेओ ज चउव्विह दाण ।
त वुच्चइ दायव्व, णिद्दिट्ठमुवासयज्झयणे ।।३१।।
आहारौषध शास्त्रानुभयभेदात् यत् चतुर्विधम् दानम् ।
तद् उच्यते दातव्य निर्दिष्टम् उपासक-अध्ययने ।।३१।।

३३२ दाण भोयणमेत्त, दिज्जइ धन्नो हवेइ सायारो ।
पत्तापत्तविसेस, सदसणे कि वियारेण ।।३२।।
दान भोजनमात्र, दीयते धन्यो भवति सागार ।
पात्रापात्रविशेषसदर्शने कि विचारेण ।।३२।।

३२६ सावद्ययोग अर्थात् हिंसारम्भ से बचने के लिए केवल सामायिक ही प्रशस्त है। उसे श्रेष्ठ गृहस्थधर्म जानकर विद्वान् को आत्म-हित तथा मोक्ष-प्राप्ति के लिए सामायिक करना चाहिए।

३२७ सामायिक करने से अर्थात् सामायिक के काल में श्रावक भी श्रमण के समान (सब सावद्ययोग से रहित एवं समताभावयुक्त) हो जाता है। अतएव अनेक प्रकार से सामायिक करना चाहिए।

३२८ सामायिक करते समय जो श्रावक पर चिन्ता करता है, वह आर्त्त-ध्यान को प्राप्त होता है। उसकी सामायिक निरर्थक है।

३२९ आहार, शरीर-संस्कार, अब्रह्म तथा आरम्भत्याग ये चार बातें प्रोषधोपवास नामक शिक्षा-व्रत में आती हैं। इन चारों का त्याग एकदेश भी होता है और सर्वदेश भी होता है। जो सम्पूर्णत प्रोषध करता है, उसे नियमत सामायिक करनी चाहिए।

३३० उद्गम आदि दोषों से रहित देशकालानुकूल, शुद्ध अन्नादिक का उचित रीति से (मुनि आदि संयमियों को) दान देना गृहस्थों का अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत है। (इसका यह भी अर्थ है कि जो लोग बिना किसी पूर्वसूचना के अतिथि रूप में आते हैं उनको अपने भोजन में संविभागी बनाना चाहिए।)

३३१ आहार, औषध, शास्त्र और अभय के रूप में दान चार प्रकार का कहा गया है। उपासकाध्ययन में अर्थात् श्रावकाचार में उसे देने योग्य कहा गया है।

३३२ भोजनमात्र का दान करने से भी गृहस्थ धन्य होता है। इसमें पात्र और अपात्र का विचार करने से क्या लाभ?

३३९ नाणदसणसपण्ण, सजमे य तवे रय।
एवगुणसमाउत्त, सजय साहुमालवे ॥४॥
ज्ञानदर्शनसम्पन्न, सयमे च तपसि रतम्।
एवगुणसमायुक्त, सयत साधुमालपेत् ॥४॥

३४० न वि मुण्डिएण समणो, न ओंकारेण बम्भणो।
न मुणी रण्णवासेण, कुसचीरेण न तावसो ॥५॥
नाऽपि मुण्डितेन श्रमण, न ओकारेण ब्राह्मण।
न मुनिररण्यवासेन, कुशचीरेण न तापस ॥५॥

३४१ समयाए समणो होइ, बम्भचेरेण बम्भणो।
नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥६॥
समतया श्रमणो भवति, ब्रह्मचर्येण ब्राह्मण।
ज्ञानेन च मुनिर्भवति, तपसा भवति तापस ॥६॥

३४२ गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू, गिण्हाहि साहूगुण मुचऽसाहू।
वियाणिया अप्पगमप्पएण, जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो ॥७॥
गुणै साधुरगुणैरसाधु, गृहाण साधुगुणान् मुञ्चाऽसाधु (गुणान्)।
विजानीयात् आत्मानमात्मना, य रागद्वेषयो सम स पूज्य ॥७॥

३४३ देहादिसु अणुरत्ता, विसयासत्ता कसायसजुत्ता।
अप्पसहावे सुत्ता, ते साहू सम्मपरिचत्ता ॥८॥
देहादिषु अनुरक्ता, विषयासक्ता कषायसयुक्ता।
आत्मस्वभावे सुप्ता, ते साधव सम्यक्त्वपरित्यक्ता ॥८॥

३४४ बहु सुणेइ कण्णेहि, बहु अच्छीहिं पेच्छइ।
न य दिट्ठ सुय सव्व, भिक्खू अक्खाउमरिहइ ॥९॥
बहु शृणोति कर्णाभ्या बहु अक्षिभ्या प्रेक्षते।
न च दृष्ट श्रुत सर्व, भिक्षुराख्यातुमर्हति ॥९॥

३४५ सज्झायज्झाणजुत्ता, रत्ति ण सुयति ते पयाम तु।
सुत्तत्थ चिंतता, णिद्दाय वस ण गच्छति ॥१०॥
स्वाध्यायध्यानयुक्ता, रात्रौ न स्वपन्ति ते प्रकामं तु।
सूत्रार्थ चिन्तयन्तो, निद्राया वश न गच्छन्ति ॥१०॥

३३९ ज्ञान और दर्शन से सम्पन्न सयम और तप म लीन तथा इसी प्रकार के गुणा से युक्त सयमी को ही साधु कहना चाहिए ।

३४० केवल सिर मुँडाने से कोई श्रमण नही होता । ओम् का जप करने से कोई ब्राह्मण नही होता, अरण्य में रहने से कोई मुनि नही होता, कुश-चीवर पहनने से कोई तपस्वी नही होता ।

३४१ (प्रत्युत) वह समता से श्रमण होता है, ब्रह्मचय मे ब्राह्मण होता है, ज्ञान स मुनि होता है और तप से तपस्वी होता है ।

३४२ (कोई भी) गुणो मे साधु होता है और अगुणो मे असाधु । अत साधु के गुणो को ग्रहण करो और असाधुता का त्याग करो । आत्मा को आत्मा के द्वारा जानते हुए जो राग द्वेष मे समभाव रखता है, वही पूज्य है ।

३४३ देहादि म अनुरक्त, विषयासक्त, कषायसयुक्त तथा आत्मस्वभाव से सुप्त साधु सम्यक्त्व से शून्य होते ह ।

३४४ गोचरी अर्थात् भिक्षा के लिए निकला हुआ साधु कानो मे बहुत सी अच्छी-बुरी बात सुनता ह और आँखो मे बहुत सी अच्छी-बुरी वस्तुएँ देखता है, किन्तु सब कुछ देख-सुनकर भी वह किसी मे कुछ कहता नही है । अर्थात उदासीन रहता ह ।

३४५ स्वाध्याय और ध्यान में लीन साधु रात में बहुत नही सोते ह । सूत्र और अर्थ का चिन्तन करते रहने के कारण वे निद्रा के वश नही होते ।

३४६ निम्ममो निरहंकारो, निस्संगो चत्तगारवो।
समो य सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु अ ॥११॥
निर्ममो निरहङ्कारः, निःसङ्गस्त्यक्तगौरवः।
समश्च सर्वभूतेषु, त्रसेषु स्थावरेषु च ॥११॥

३४७ लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निंदापसंसासु, तहा माणावमाणओ ॥१२॥
लाभालाभे सुखे दुःखे, जीविते मरणे तथा।
समो निन्दाप्रशंसयोः, तथा मानापमानयोः ॥१२॥

३४८ गारवेसु कसाएसु, दंडसल्लभएसु य।
नियत्तो हाससोगाओ, अनियाणो अबंधणो ॥१३॥
गौरवेभ्यः कषायेभ्यः, दण्डशल्यभयेभ्यश्च।
निवृत्तो हासशोकात्, अनिदानो अबन्धनः ॥१३॥

३४९ अणिस्सिओ इहं लोए, परलोए अणिस्सिओ।
वासीचंदणकप्पो य, असणे अणसणे तहा ॥१४॥
अनिश्रित इहलोके, परलोकेऽनिश्रितः।
वासीचन्दनकल्पश्च, अशनेऽनशने तथा ॥१४॥

३५० अप्पसत्थेहिं दारेहिं, सव्वओ पिहियासवो।
अज्झप्पज्झाणजोगेहिं, पसत्थदमसासणे ॥१५॥
अप्रशस्तेभ्यो द्वारेभ्यः, भवन् पिहितास्रवः।
अध्यात्मध्यानयोगैः, प्रशस्तदमशासनः ॥१५॥

३५१ खुहं पिवासं दुस्सेज्जं, सीउण्हं अरइं भयं।
अहियासे अव्वहिओ, देहे दुक्खं महाफलं ॥१६॥
क्षुधां पिपासां दुःशय्यां, शीतोष्णं अरतिं भयम्।
अतिसहेत अव्यथितः देहदुःखं महाफलम् ॥१६॥

३५२ अहो निच्चं तवोकम्मं, सव्वबुद्धेहिं वण्णियं।
जाय लज्जासमा वित्ती, एगभत्तं च भोयणं ॥१७॥
अहो नित्यं तपःकर्म, सर्वबुद्धैर्वर्णितम्।
यावल्लज्जासमा वृत्तिः, एकभक्तं च भोजनम् ॥१७॥

३४६ [साघु ममत्वरहित, निरहकारी, निस्सग, गौरव का त्यागी तथा त्रस और स्थावर जीवो के प्रति समदृष्टि रखता है।

३४७ वह लाभ और अलाभ मे, सुख और दु ख मे, जीवन और मरण में, निदा और प्रशसा में तथा मान और अपमान मे समभाव रखता है।

३४८ वह गौरव, कपाय, दण्ड, शल्य, भय, हास्य और शोक से निवृत्त तथा निदान और बन्धन से रहित होता है।

३४९ वह इस लोक व परलोक म अनासक्त, वसूले से छीलने या चन्दन का लेप करने पर तथा आहार के मिलने या न मिलने पर भी सम रहता है--हर्ष-विपाद नहीं करता।

३५० ऐसा श्रमण अप्रशस्त द्वारो (हेतुओ) से आनवाले आस्रवो का सवतोभावेन निरोध कर अध्यात्म-सम्बन्धी ध्यान-योगो से प्रशम्त सयम-शासन म लीन हो जाता है।

३५१ भूख, प्यास, दु शय्या (ऊँची-नीची पथरीली भूमि) ठड, गर्मी, अरति, भय आदि को बिना दु खी हुए सहन करना चाहिए। क्योकि दैहिक दु खो को समभावपूर्वक सहन करना महा-फलदायी होता है।

३५२ अहो, सभी ज्ञानिया ने ऐसे तप-अनुष्ठान का उपदेश किया है जिसमें सयमानुकूल वतन के साथ-साथ दिन में केवल एक बार भोजन विहित है।

३५३ किं काहदि वणवासो, कायकलेसो विचित्त उववासो ।
अज्झयणमोणपहुदी, समदारहियस्स समणस्स ॥१८॥
किं करिष्यति वनवास , कायक्लेशो विचित्रोपवास ।
अध्ययनमौनप्रभृतय , समतारहितस्य श्रमणस्य ॥१८॥

३५४ बुद्धे परिनिव्वुडे चरे, गाम गए नगरे व सजए ।
सतिमग्ग च बूहए, समय गोयम ! मा पमायए ॥१९॥
बुद्ध परिनिवृतश्चरे , ग्रामे गतो नगरे वा सयत ।
शान्तिमार्ग च बृहये , समय गौतम ! मा प्रमादी ॥१९॥

३५५ न हु जिणे अज्ज दिस्सई, बहुमए दिस्सई मग्गदेसिए ।
सपइ नेयाउए पहे, समय गोयम ! मा पमायए ॥२०॥
न खलु जिनोऽद्य दृश्यते, बहुमतो दृश्यते मार्गदर्शित ।
सम्प्रति नैयायिके पथि, समय गौतम ! मा प्रमादी ॥२०॥

(आ) वेश-लिंग

३५६ वेसो वि अप्पमाणो, असजमपएसु वट्टमाणस्स ।
किं परियत्तियवेस, विस न मारेइ खज्जत ॥२१॥
वेषोऽपि अप्रमाण , असयमपदेषु वर्तमानस्य ।
किं परिवर्तितवेष, विष न मारयति खादन्तम् ॥२१॥

३५७ पच्चयत्थ च लोगस्स, नाणाविहविगप्पण ।
जत्तत्थ गहणत्थ च, लोगे लिंगपओयण ॥२२॥
प्रत्ययार्थं च लोकस्य, नानाविधविकल्पनम ।
यात्रार्थं ग्रहणार्थं च, लोके लिङ्गप्रयोजनम ॥२२॥

३५८ पासडीलिंगाणि व, गिहिलिंगाणि व बहुप्पयाराणि ।
घित्तु वदंति मूढा, लिंगमिण मोक्खमग्गो त्ति ॥२३॥
पाषडिलिङ्गानि वा, गृहिलिङ्गानि वा बहुप्रकाराणि ।
गृहीत्वा वदन्ति मूढा, लिङ्गमिद मोक्षमार्ग इति ॥२३॥

३५९ पुल्लेव मुट्ठी जह से असारे, अयन्तिए कूडकहावणे वा ।
राढामणी वेरुलियप्पगासे, अमहग्घए होइ य जाणएसु ॥२४॥
शुषिरा इव मुष्टिर्यथा स असार, अयन्त्रित कूटकार्षापणो वा ।
राढामणिर्वैडूर्यप्रकाश , अमहार्घको भवति च ज्ञायकेषु ज्ञेषु ॥२४॥

३५३ समतारहित श्रमण का वनवास, कायक्लेश, विविध उपवास, अध्ययन और मौन व्यथ है ।

३५४ प्रबुद्ध और उपशान्त होकर सयतभाव से ग्राम और नगर म विचरण कर । शाति का माग बढा । हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद मत कर ।

३५५ भविष्य म लोग कहगे, आज 'जिन' दिखाई नही देते और जो मागदशक ह वे भी एकमत के नही ह । किन्तु आज तुझे न्याय-पूण माग उपलब्ध है । अत गौतम ! एक क्षणमात्र भी प्रमाद मत कर ।

(आ) वेश या लिंग

३५६ (सयममाग म) वेश प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह असयत लोगो म भी पाया जाता है । क्या वेश बदलनेवाले व्यक्ति को खाया हुआ विष नही मारता ?

३५७ (फिर भी) लोक-प्रतीति के लिए नाना तरह के उपकरणो की, वेश आदि की परिकल्पना की गयी है । सयम-यात्रा के निर्वाह के लिए और 'मैं साधु हूँ' इसका बोध रहने के लिए ही लोक में लिंग का प्रयोजन है ।

३५८ लोक में साधुओ तथा गृहस्थो के तरह-तरह के लिंग प्रचलित ह जिन्ह धारण करके मूढजन ऐसा कहते ह कि अमुक लिंग (चिह्न) मोक्ष का कारण है ।

३५९ जो पाली मुट्ठी की तरह निस्सार है, खोटे सिक्के की तरह अप्रमाणित है, वैडूय की तरह चमकनेवाले काचमणि है उसका जानकारो की दृष्टि में कोई मूल्य नहीं ।

३६० भावो हि पढमलिंग, ण दव्वलिंग च जाण परमत्थं ।
भावो कारणभूदो, गुणदोसाण जिणा बिंति ॥२५॥
भावो हि प्रथमलिङ्ग, न द्रव्यलिङ्ग च जानीहि परमार्थम् ।
भाव कारणभूत, गुणदोपाणा जिना ब्रुवन्ति ॥२५॥

३६१ भावविसुद्धिणिमित्त, बाहिरगंथस्स कीरए चाओ ।
बाहिरचाओ विहलो, अब्भंतरगंथजुत्तस्स ॥२६॥
भावविशुद्धिनिमित्त, बाह्यग्रन्थस्य क्रियते त्याग ।
बाह्यत्याग विफल, अभ्यन्तरग्रन्थयुक्तस्य ॥२६॥

३६२ परिणामम्मि असुद्धे, गंथे मुंचेइ बाहिरे य जई ।
बाहिरगंथच्चाओ, भावविहूणस्स किं कुणइ ? ॥२७॥
परिणामे अशुद्धे, ग्रन्थान् मुञ्चति बाह्यान् च यति ।
बाह्यग्रन्थत्याग, भावविहीनस्य किं करोति ? ॥२७॥

३६३ देहादिसंगरहिओ, माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ, स भावलिंगी हवे साहू ॥२८॥
देहादिसगरहित, मानकषायै सकलपरित्यक्त ।
आत्मा आत्मनि रत, स भावलिङ्गी भवेत् साधु ॥२८॥

२५ व्रतसूत्र

३६४ अहिंसा सच्च च अतेणग च, तत्तो य बंभ अपरिग्गहं च ।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि, चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विऊ ॥१॥
अहिंसा सत्य चास्तेनक च, ततश्चाब्रह्मापरिग्रह च ।
प्रतिपद्य पञ्चमहाव्रतानि, चरति धर्मं जिनदेशित विद ॥१॥

३६५ णिस्सल्लस्सेव पुणो, महव्वदाइं हवंति सव्वाइं ।
वदमुवहम्मदि तीहिं दु, णिदाणमिच्छत्तमायाहिं ॥२॥
निःशल्यस्यैव पुन, महाव्रतानि भवन्ति सर्वाणि ।
व्रतमुपहन्यते तिसृभिस्तु, निदान मिथ्यात्व-मायाभि ॥२॥

३६० (वास्तव में) भाव ही प्रथम या मुख्य लिंग है। द्रव्य लिंग परमार्थ नहीं है, क्योंकि भाव को ही जिनदेव गुण दोषों का कारण कहते हैं।

३६१ भावों की विशुद्धि के लिए ही बाह्य परिग्रह का त्याग किया जाता है। जिसके भीतर परिग्रह की वासना है उसका बाह्य त्याग निष्फल है

३६२ अशुद्ध परिणामों के रहते हुए भी यदि बाह्य परिग्रह का त्याग करता है तो आत्म भावना से शून्य उसका बाह्य त्याग क्या हित कर सकता है ?

३६३ जो देह आदि की ममता से रहित है, मान आदि कषायों से पूरी तरह मुक्त है तथा जो अपनी आत्मा में ही लीन है, वही साधु भावलिंगी है।

२५ व्रतसूत्र

३६४ अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच महाव्रतों को स्वीकार करके विद्वान् मुनि जिनोपदिष्ट धर्म का आचरण करे।

३६५ निःशल्य व्रती के ही ये सब महाव्रत होते हैं। क्योंकि निदान, मिथ्यात्व और माया—इन तीन शल्यों से व्रतों का घात होता है।

३६६ अगणिअ जो मुक्खसुह, कुणइ निआण असारसुहहेउ ।
सो कायमणिकएण, वेरुलियमणि पणासेइ ॥३॥
अगणयित्वा यो मोक्षसुख, करोति निदानमसारसुखहेतो ।
स काचमणिकृते, वैडूर्यमणि प्रणाशयति ॥३॥

३६७ कुलजोणिजीवमग्गण-ठाणाइसु जाणिऊण जीवाण ।
तस्सारंभणियत्तण, परिणामो होइ पढमवद ॥४॥
कुलयोनिजीवमार्गणा-स्थानादिषु ज्ञात्वा जीवानाम् ।
तस्यारम्भनिवर्तनपरिणामो भवति प्रथमव्रतम् ॥४॥

३६८ सव्वेसिमासमाण, हिदय गब्भो व सव्वसत्थाण ।
सव्वेसिं वदगुणाण, पिंडो सारो अहिंसा हु ॥५॥
सर्वेषामाश्रमाणा, हृदय गर्भो वा सर्वशास्त्राणाम् ।
सर्वेषा व्रतगुणाना, पिण्ड सार अहिंसा हि ॥५॥

३६९ अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया ।
हिंसग न मुस बूया, नो वि अन्न वयावए ॥६॥
आत्मार्थ परार्थ वा, क्रोधाद्वा यदि वा भयात् ।
हिंसक न मृषा ब्रूयात, नाप्यन्य वदापयेत् ॥६॥

३७० गामे वा णयरे वा, रण्णे वा पेच्छिऊण परमत्थ ।
जो मुचदि गहणभाव, तिदियवद होदि तस्सेव ॥७॥
ग्रामे वा नगरे वा-ऽरण्ये वा प्रेक्षित्वा परमार्थम् ।
यो मुञ्चति ग्रहणभाव, तृतीयव्रत भवति तस्यैव ॥७॥

३७१ चित्तमतमचित्त वा, अप्प वा जइ वा बहु ।
दतसोहणमेत्त पि, ओग्गहसि अजाइया ॥८॥
चित्तवदचित्तवद्वा, अल्प वा यदि वा बहु (मूल्यत) ।
दन्तशोधनमात्रमपि, अवग्रहे अयाचित्वा (न गृह्णाति) ॥८॥

३७२ अइभूमिं न गच्छेज्जा, गोयरग्गगओ मुणी ।
कुलस्स भूमि जाणित्ता, मिय भूमि परक्कमे ॥९॥
अतिभूमि न गच्छेद्, गोचराग्रगतो मुनि ।
कुलस्य भूमि ज्ञात्वा, मिता भूमि पराक्रमेत् ॥९॥

३६६ जो व्रती मोक्ष-सुख की उपेक्षा या अवगणना करके (परभव में) अमरासुख की प्राप्ति के लिए निदान या अभिलाषा करता है वह काँच के टुकडे के लिए वैडूर्यमणि को गँवाता है ।

३६७ कुल, योनि, जीवस्थान, मार्गणास्थान आदि में जीवो को जानकर उनसे सम्बन्धित आरम्भ से निवृत्तिरूप (आभ्यन्तर) परिणाम प्रथम अहिंसाव्रत है ।

३६८ अहिंसा सब आश्रमो का हृदय, सब शास्त्रो का रहस्य तथा सब व्रतो और गुणो का पिण्डभूत सार है ।

३६९ स्वय अपने लिए या दूसरो के लिए क्रोधादि या भय आदि के वश होकर हिंसात्मक असत्यवचन न तो स्वय बोलना चाहिए और न दूसरा से बुलवाना चाहिए । यह दूसरा सत्यव्रत है ।

३७० ग्राम, नगर अथवा अरण्य में दूसरे की वस्तु को देखकर उसे ग्रहण करने का भाव त्याग देनेवाले साधु के तीसरा अचौर्य व्रत होता है ।

३७१ सचेतन अथवा अचेतन, अल्प अथवा बहुत, यहाँ तक कि दाँत साफ करने की सींक तक भी साधु बिना दिये ग्रहण नही करते ।

३७२ गोचरी के लिए जानेवाले मुनि को वर्जित भूमि में प्रवेश नही करना चाहिए । कुल की भूमि को जानकर मितभूमि तक ही जाना चाहिए ।

३७३ मूलमेअमहम्मस्स, महादोससमुस्सय ।
तम्हा मेहुणससग्गि, निग्गया वज्जयति ण ।।१०।।
मूलम् एतद् अधमस्य, महादोषसमुच्छ्रयम ।
तस्मात् मैथुनससग , निग्रन्था वजयन्ति णम् ।।१०।।

३७४ मादुसुदाभगिणी विय, दट्ठूणित्थित्तिय य पडिरूव ।
इत्थिकहादिणियत्ती, तिलोयपुज्ज हवे बभ ।।११।।
मातृसुताभगिनीमिव च , दृष्ट्वा स्त्रीत्रिक च प्रतिरूपम् ।
स्त्रीकथादिनिवृत्ति–स्त्रिलोकपूज्य भवेद् ब्रह्म ।।११।।

३७५ सव्वेसि गथाण, तागो णिरवेक्खभावणापुव्व ।
पचमवदमिदि भणिद, चारित्तभर वहतस्स ।।१२।।
सर्वेषा ग्रन्थाना, त्यागो निरपेक्षभावनापूर्वम् ।
पचमव्रतमिति भणित, चारित्रभर वहत ।।१२।।

३७६ किं किचणत्ति तक्क, अपुणब्भवकामिणोध देहे वि ।
सग त्ति जिणवरिंदा, णिप्पडिकम्मत्तमुद्दिट्ठा ।।१३।।
किं किंचनमिति तक , अपुनर्भवकामिनोऽथ देहेऽपि ।
सग इति जिनवरेन्द्रा, निष्प्रतिकमत्वमुद्दिष्टवन्त ।।१३।।

३७७ अप्पडिकुट्ठ उवधि, अपत्यणिज्ज असजदजणेहि ।
मुच्छादिजणणरहिद, गेण्हदु समणो जदि वि अप्प ।।१४।।
अप्रतिक्रुष्टमुपधि-मप्रार्थनीयमसयतजनै ।
मूर्च्छादिजननरहित, गृह्णातु श्रमणो यद्यप्यल्पम ।।१४।।

३७८ आहारे व विहारे, देस काल सम खम उवधि ।
जाणित्ता ते समणो, वट्टदि जदि अप्पलेवी सो ।।१५।।
आहारे वा विहारे, देश काल श्रम क्षमम् उपधिम् ।
ज्ञात्वा तान् श्रमण , वतते [illegible] ।लेपी स ।।१५।।

३७३ मैथुन-ससग अधम का मूल है, महान् दोपो का समूह है। इसलिए ब्रह्मचय व्रती निग्रन्थ साधु मैथुन-सेवन का सवथा त्याग करते ह।

३७४ वृद्धा, वालिका और युवती स्त्री के इन तीन प्रतिरूपा को देखकर उन्हे माता, पुत्री और वहन के समान मानना तथा स्त्री कथा से निवृत्त हाना ब्रह्मचय-व्रत है। यह ब्रह्मचय तीना लोको में पूज्य है।

३७५ निरपेक्षभावनापूवक चारित्र का भारवहन करनेवाले साधु का वाह्याभ्यन्तर, सम्पूण परिग्रह का त्याग करना, पाचवाँ परिग्रह-त्याग नामक महाव्रत कहा जाता है।

३७६ जव भगवान् अरहतदेव ने मोक्षाभिलापी को 'शरीर भी परिग्रह है' कहकर देह की उपेक्षा करने का उपदेश दिया है, तव अन्य परिग्रह की तो वात ही क्या है।

३७७ (फिर भी) जो अनिवाय है, असयमी जना द्वारा अप्रार्थनीय है, ममत्व आदि पैदा करनेवाली नही है ऐसी वस्तु ही साधु के लिए उपादय है। इससे विपरीत अल्पतम परिग्रह भी उसके लिए ग्राह्य नही है।

३७८ आहार अथवा विहार में देश, काल, श्रम, अपनी सामथ्य तथा उपाधि को जानकर श्रमण यदि वरतता है तो वह अल्पलेपी होता है अर्थात् उसे अल्प ही वध होता है।

३७९ भगवान् महावीर ने (वस्तुगत) परिग्रह को परिग्रह नही कहा है। उन महर्पि ने मूर्च्छा को ही परिग्रह कहा है।

३८० सन्निहिं च न कुव्वेज्जा, लेवमायाए संजए ।
पक्खी पत्तं समादाय, निरवेक्खो परिव्वए ॥१७॥
सन्निधिं च न कुर्वीत, लेपमात्रया संयत ।
पक्षी पत्रं समादाय, निरपेक्ष परिव्रजेत् ॥१७॥

३८१ संथारसेज्जासणभत्तपाणे, अप्पिच्छया अइलाभे वि संते ।
एवप्पमाणभितोसएज्जा, संतोसपाहन्नरए स पुज्जो ॥१८॥
संस्तारकशय्यासनभक्तपानानि, अल्पेच्छता अतिलाभेऽपि सति ।
एवमात्मानमभितोषयति, संतोषप्राधान्यरत स पूज्य ॥१८॥

३८२ अत्थंगयम्मि आइच्चे, पुरत्था अ अणुग्गए ।
आहारमाइयं सव्वं, मणसा वि ण पत्थए ॥१९॥
अस्तंगते आदित्ये, पुरस्ताच्चानुद्गते ।
आहारमादिकं सर्व, मनसापि न प्रार्थयेत् ॥१९॥

३८३ संतिमे सुहुमा पाणा, तसा अदुव थावरा ।
जाइं राओ अपासंतो, कहमेसणियं चरे ? ॥२०॥
सन्ति इमे सूक्ष्मा प्राणिन, त्रसा अथवा स्थावरा ।
यान् रात्रावपश्यन्, कथम एषणीयं चरेत ? ॥२०॥

२६ समिति गुप्तिसूत्र

(अ) अष्ट प्रवचन-माता

३८४ इरियाभासेसणाऽऽदाणे, उच्चारे समिई इय ।
मणगुत्ती वयगुत्ती, कायगुत्ती य अट्ठमा ॥१॥
ईर्याभाषैषणाऽऽदाने-उच्चारे समितय इति ।
मनोगुप्तिर्वचोगुप्ति, कायगुप्तिश्चाष्टमी ॥१॥

३८५ एदाओ अट्ठ पवयणमादाओ णाणदंसणचरित्तं ।
रक्खंति सदा मुणिणो, मादा पुत्तं व पयदाओ ॥२॥
एता अष्ट प्रवचन-मातर ज्ञानदर्शनचारित्राणि ।
रक्षन्ति सदा मुनीन्, मातर पुत्रमिव प्रयता ॥२॥

३८० साधु लशमात्र भी सग्रह न करे। पक्षी की तरह सग्रह से निरपेक्ष रहते हुए केवल सयमोपकरण के साथ विचरण करे।

३८१ सस्तारक, शय्या, आसन और आहार का अतिलाभ होने पर भी जो अल्प इच्छा रखते हुए अल्प से अपने को सतुष्ट रखता है, अधिक ग्रहण नही करता, वह सतोष में ही प्रधान रूप से अनुरक्त रहनेवाला साधु पूज्य है।

३८२ सम्पूर्ण परिग्रह से रहित, समरसी साधु को सूर्यास्त के पश्चात् और सूर्योदय के पूर्व किसी भी प्रकार के आहार आदि की इच्छा मन मे नही लानी चाहिए।

३८३ इस धरती पर ऐसे त्रस और स्थावर सूक्ष्म जीव सदैव व्याप्त रहते है जो रात्रि के अधकार में दीख नही पडते। अत ऐसे समय में साधु के द्वारा आहार की शुद्ध गवेषणा कैसे हो सकती है?

२६ समिति-गुप्तिसूत्र

(अ) अष्ट प्रवचनमाता

३८४ ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण और उत्सर्ग—ये पाँच समितियाँ है। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति—ये तीन गुप्तिया है।

३८५ ये आठ प्रवचनमाताएँ है। जसे सावधान माता पुत्र का रक्षण करती है, वैसे ही सावधानीपूर्वक पालन की गयी ये आठो माताएँ मुनि के सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र का रक्षण करती है।

३८६ एयाओ पच समिईओ, चरणस्स य पवत्तणे ।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो ॥३॥
एता पञ्च समितय, चरणस्य च प्रवतने ।
गुप्तयो निवतने उक्ता, अशुभार्थेम्य मवश ॥३॥

३८७ जह गुत्तस्सिरियाई, न होंति दोसा तहेव समियस्स ।
गुत्तीट्ठिय प्पमाय, रुभइ समिई सचेट्ठस्स ॥४॥
यथा गुप्तस्य ईर्यादि (ज या) न भवन्ति दोषा, तथैव समितस्य ।
गुप्तिस्थितो प्रमाद, रुणद्धि समिति (स्थित) सचेष्टस्य ॥४॥

३८८ मरदु व जियदु व जीवो, अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बघो, हिंसामेत्तेण समिदीसु ॥५॥
म्रियता वा जीवतु वा जीव -अयताचारस्य निश्चिता हिंसा
प्रयतस्य नास्ति व घो, हिंसामात्रेण समितिषु ॥५॥

३८९-३९० आहच्च हिंसा समितस्स जा तू, सा दव्वतो होति ण भावतो उ ।
भावेण हिंसा तु असजतस्सा, जे वा वि सत्ते ण सदा वधेति ॥६॥
सपत्ति तस्सेव जदा भविज्जा, सा दव्वहिंसा खलु भावतो य ।
अज्झत्यसुद्धस्स जदा ण होज्जा, वधेण जोगा दुहतो वऽहिंसा ॥७॥
आहृत्य हिंसा समितस्य या तु, सा द्रव्यतो भवति न भावत तु ।
भावेन हिंसा तु असयतस्य यान् वा अपि सत्त्वान न सदा हन्ति।६।
सम्प्राप्तिस्तस्यैव यदा भवति, सा द्रव्यहिंसा खलु भावता च ।
अध्यात्मशुद्धस्य यदा न भवति, वधेन योग द्विधाऽपि च अहिंसा ।७।

३९१-३९२. उच्चालियम्मि पाए, इरियासमियस्स णिग्गमणट्ठाए ।
आवाधेज्ज कुलिगी, मरिज्ज त जोगमासज्ज ॥८॥
ण हि तग्घादणिमित्तो, बघो सुहुमो वि देसिओ समए ।
मुच्छा परिग्गहो त्ति य, अज्झप्प पमाणदो भणिदो ॥९॥

३८६ ये पाँच समितियाँ चारित्र की प्रवृत्ति के लिए हैं। और तीन गुप्तियाँ सभी अशुभ विषयों से निवृत्ति के लिए हैं।

३८७ जैसे गुप्ति का पालन करनेवाले को अनुचित गमनागमन-मूलक दोष नहीं लगते, वैसे ही समिति का पालन करनेवाले को भी नहीं लगते। इसका कारण यह है कि मुनि जब मनो-गुप्ति आदि में स्थित होता है तब वह अगुप्तिमूलक प्रमाद को रोकता है, जो दोषों का कारण है। जब वह समिति में स्थित होता है, तब चेष्टा करते समय होनेवाले प्रमाद को रोकता है।

३८८ जीव मरे या जीये, अयतनाचारी को हिंसा का दोष अवश्य लगता है। किंतु जो समितियों में प्रयत्नशील है उनसे बाह्य हिंसा हो जाने पर भी उसे कर्मबंध नहीं होता।

३८९–३९० इसका कारण यह है कि समिति का पालन करते हुए साधु से जो आकस्मिक हिंसा हो जाती है, वह केवल द्रव्य हिंसा होती है, भावहिंसा नहीं। भावहिंसा तो उनसे होती है जो असंयमी या अयतनाचारी होते हैं—वे जिन जीवों को कभी मारते नहीं, उनकी हिंसा का दोष भी इन्हें लगता है।

किसी प्राणी का घात हो जाने पर जैसे अयतनाचारी संयत या असंयत व्यक्ति को द्रव्य तथा भाव दोनों प्रकार की हिंसा का दोष लगता है, वैसे ही चित्त-शुद्धि से युक्त समितिपरायण साधु द्वारा (मन पूर्वक) किसी का घात न होने के कारण उसके द्रव्य तथा भाव दोनों प्रकार की अहिंसा होती है।

३९१–३९२ ईर्या-समितिपूर्वक चलनेवाले साधु के पैर के नीचे अचानक कोई छोटा-सा जीव आ जाये और कुचलकर मर जाये तो आगम कहता है कि इसमें साधु को सूक्ष्म मात्र भी बंध नहीं होता।

उच्चालिते पादे, ईर्यासमितस्य निगमनार्थाय ।
अवाघे कुलिङ्गी, म्रियेत त योगमासाद्य ॥८॥
न हि तदघातनिमित्ता, वधो सूक्ष्मोऽपि देशित समये ।
मूर्च्छा परिग्रहो इति च, अध्यात्मप्रमाणता भणित ॥९॥

३९३ पउमिणिपत्त व जहा, उदयेण ण लिप्पदि सिणेहगुणजुत्त ।
तह समिदीहि ण लिप्पइ, साधु काएसु इरियतो ॥१०॥
पद्मिनीपत्र वा यथा, उदकेन न लिप्यते स्नेहगुणयुक्तम ।
तथा समितिभिन लिप्यते, साधु कायेषु ईयन ॥१०॥

३९४ जयणा उ धम्मजणणी, जयणा धम्मस्स पालणी चेव ।
तव्वुड्ढीकरी जयणा, एगतसुहावहा जयणा ॥११॥
यतना तु धमजननी, यतना धमस्य पालनी चव ।
तद्वृद्धिकरी यतना, एकान्तसुखावहा यतना ॥११॥

३९५ जय चरे जय चिट्ठे ,जयमासे जय सए ।
जय भुजतो भासतो, पाव कम्म न बधइ ॥१२॥
यत चरेत् यत तिष्ठेत्, यतमासीत यत शयीत ।
यत भुञ्जान भाषमाण पाप कम न बध्नाति ॥१२॥

(आ) समिति

३९६ फासुयमग्गेण दिवा, जुगतरप्पेहिणा सकज्जेण ।
जतुण परिहरते णिरियासमिदी हवे गमण ॥१३॥
प्रासुकमार्गेण दिवा, युगान्तरप्रेक्षिणा सकार्येण ।
जन्तून् परिहरता, ईर्यासमिति भवेद् गमनम् ॥१३॥

३९७ इन्दियत्थे विवज्जित्ता, सज्झाय चेव पचहा ।
तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे, उवउत्ते इरिय रिए ॥१४॥
इन्द्रियार्थान् विवर्ज्य, स्वाध्याय चव पञ्चधा ।
तन्मूर्ति (सन) तत्पुरस्कार , उपयुक्त ईर्या रीयेत ॥१४॥

३९८ तहेवुच्चावया पाणा, भत्तट्ठाए समागया ।
त उज्जुअ न गच्छिज्जा, जयमेव परक्कमे ॥१५॥
तथैवुच्चावचा प्राणिन , भक्तार्थ समागता ।
तदृजुक न गच्छेत् , यतमेव पराक्रामेत् ॥१५॥

जैसे अध्यात्म (शास्त्र) मे मूर्च्छा को ही परिग्रह कहा गया है, वैसे ही उसमे प्रमाद को हिंसा कहा गया है ।

३९३ जैसे स्नेहगुण से युक्त कमलिनी का पत्र जल से लिप्त नही होता, वैसे ही समितिपूवक जीवा के बीच विचरण करनेवाला साधु पाप (कमवध) से लिप्त नही होता ।

३९४ यत्नाचारिता धम की जननी है । यत्नाचारिता धम की पालनहार है । यत्नाचारिता धम को बढ़ाती है । यत्नाचारिता एकान्त सुखावह है ।

३९५ यत्नाचार (विवेक या उपयोग) पूवक चलने, यत्नाचारपूर्वक रहने, यत्नाचारपूवक बैठने, यत्नाचारपूवक सोने, यत्नाचारपूवक खाने और यत्नाचारपूवक बोलने से साधु को पाप-कम का बध नही होता ।

(आ) समिति

३९६ कार्यवश दिन मे प्रासुकमाग से (जिस माग पर पहले से आवागमन शुरु हो चुका हो), चार हाथ भूमि को आगे देखत हुए, जीवो की विराधना बचाते हुए गमन करना ईर्या-समिति है ।

३९७ इन्द्रियो के विषय तथा पाँच प्रकार के स्वाध्याय का काय छोडकर केवल गमन क्रिया में ही तन्मय हो, उसी को प्रमुख महत्त्व देकर उपयोगपूवक (जागृतिपूवक) चलना चाहिए ।

३९८ गमन करते समय इस बात की भी पूरी सावधानी रखनी चाहिए कि नाना प्रकार के जीव-जन्तु, पशु-पक्षी आदि इधर-उधर से चारे-दाने के लिए माग में इकट्ठा हो गये हो तो उनके सामने भी नही जाना चाहिए, ताकि वे भयग्रस्त न हों ।

३९९ न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं, न निरट्ठं न मम्मयं।
अप्पणट्ठा परट्ठा वा, उभयस्सन्तरेण वा ॥१६॥
न लपेत् पृष्टः सावद्यं, न निरर्थं न मर्मगम्।
आत्मार्थं परार्थं वा, उभयस्यान्तरेण वा ॥१६॥

४०० तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी।
सच्चा-वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ॥१७॥
तथैव परुषा भाषा, गुरुभूतोपघातिनी।
सत्यापि सा न वक्तव्या, यतो पापस्य आगमः ॥१७॥

४०१ तहेव काणं काणे त्ति, पडगं पडगे त्ति वा।
वाहियं वा वि रोगि त्ति, तेणं चोरे त्ति नो वए ॥१८॥
तथैव काणं काण इति, पण्डकं पण्डक इति वा।
व्याधितं वाऽपि रोगी इति, स्तेनं चौर इति नो वदेत् ॥१८॥

४०२ पेसुण्णहासकक्कस - परणिंदाप्पप्पसंसा - विकहादी।
वज्जित्ता सपरहियं, भासासमिदी हवे कहणं ॥१९॥
पैशुन्यहासकर्कश-परनिंदाऽऽत्मप्रशंसा विकथादीन्।
वर्जयित्वा स्वपरहितं, भाषासमितिः भवेत् कथनम् ॥१९॥

४०३ दिट्ठं मियं असंदिद्धं, पडिपुण्णं वियंजियं।
अयंपिरमणुव्विग्गं, भासं निसिर अत्तवं ॥२०॥
दृष्टां मिताम् असन्दिग्धां, प्रतिपूर्णां व्यक्ताम्।
अजल्पनशीलां अनुद्विग्नां, भाषां निसृज आत्मवान् ॥२०॥

४०४ दुल्लहा उ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी, दोवि गच्छंति सोग्गइं ॥२१॥
दुर्लभा तु मुधादायिनः, मुधाजीविनोऽपि दुर्लभाः।
मुधादायिनः मुधाजीविनः, द्वावपि गच्छतः सुगतिम् ॥२१॥

३९९ (भाषा-समिति-परायण साधु) किसी के पूछने पर भी अपने लिए, अन्य के लिए अथवा दोनों के लिए न तो सावद्य अर्थात् पाप-वचन बोले, न निरर्थक वचन बोले और न मर्मभेदी वचन का प्रयोग करे।

४०० तथा कठोर और प्राणियों का उपघात करनेवाली, चोट पहुँचानेवाली भाषा भी न बोले। ऐसा सत्य वचन भी न बोले जिससे पाप का बंध होता हो।

४०१ तथा काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, व्याधिग्रस्त को रोगी और चोर को चोर भी न कहे।

४०२ पैशुन्य, हास्य, कर्कश-वचन, परनिंदा, आत्मप्रशंसा, विकथा (स्त्री, राज आदि की रसवर्धक या विकारवर्धक कथा) का त्याग करके स्व-पर हितकारी वचन बोलना ही भाषा समिति है।

४०३ आत्मवान् मुनि ऐसी भाषा बोले जो आँखों देखी बात को कहती हो, मित (संक्षिप्त) हो, संदेहास्पद न हो, स्वर-व्यंजन आदि से पूर्ण हो, व्यक्त हो, बोलने पर भी न बोली गयी जैसी अर्थात् सहज हो और उद्वेगरहित हो।

४०४ मुधादायी—निष्प्रयोजन देनेवाले—दुर्लभ हैं और मुधाजीवी—भिक्षा पर जीवन यापन करनेवाले—भी दुर्लभ हैं। मुधादायी और मुधाजीवी दोनों ही साक्षात या परम्परा से सुगति या मोक्ष प्राप्त करते हैं।

६

४०५ उग्गम-उप्पादण-एसणेहिं, पिंड च उवधि सज्ज वा ।
सोधतस्स य मुणिणो, परिसुज्झइ एसणा समिदी ॥२२॥
उद्गमोत्पादनैषणं, पिण्ड च उपधिं शय्या वा ।
शोधयतश्च मुने, परिशुद्धयति एषणा समिति ॥२२॥

४०६ ण बलाउसाउअट्ठ, ण सरीरस्सुवचयट्ठ तेजट्ठ ।
णाणट्ठसजमट्ठ, झाणट्ठ चेव भुजेज्जा ॥२३॥
न बलायु स्वादार्थं, न शरीरस्यापचयाय तेजोऽयम् ।
ज्ञानार्थं सयमार्थं, ध्यानार्थं चैव भुञ्जीत ॥२३॥

४०७-४०८ जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रस ।
ण य पुप्फ किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पय ॥२४॥
एमेए समणा मुत्ता, जे लोए सत्ति साहुणो ।
विहगमा व पुप्फेसु, दाणभत्तेसणेरया ॥२५॥
यथा द्रुमस्य पुष्पेपु भ्रमर आपिबति रसम् ।
न च पुष्प क्लामयति, स च प्रीणात्यात्मानम् ॥२४॥
एवमेते श्रमणा मुक्ता, ये लोके सन्ति साधव ।
विहगमा इव पुष्पेपु, दानभक्तैपणारता ॥२५॥

४०९ आहाकम्म-परिणओ, फासुयभोई वि बधओ होई ।
सुद्ध गवेसमाणो, आहाकम्मे वि सो सुद्धो ॥२६॥
आधाकर्मपरिणत, प्रासुकभोजी अपि बधको भवति ।
शुद्ध गवेषयन्, आधाकर्मण्यपि स शुद्ध ॥२६॥

४१० चक्खुसा पडिलेहित्ता, पमज्जेज्ज जय जई ।
आइए निक्खिवेज्जा वा, दुहओवि समिए सया ॥२७॥
चक्षुषा प्रतिलिख्य, प्रमार्जयेत यत यति ।
आददीत निक्षिपेद् वा, द्विधाऽपि समित सदा ॥२७॥

४११ एगते अच्चित्ते दूरे, गूढे विसालमविरोहे ।
उच्चारादिच्चाओ, पदिठावणिया हवे समिदी ॥२८॥
एकान्ते अचित्ते दूरे, गूढे विशाले अविरोधे ।
उच्चारादित्याग, प्रतिष्ठापनिका भवेत समिति ॥२८॥

४०५ उद्गम-दोष*, उत्पादन-दोष और अशन दोषों से रहित भोजन, उपधि और शय्या-वसतिका आदि की शुद्धि करनेवाले मुनि के एषणा-समिति शुद्ध होती है।

४०६ मुनिजन न तो बल या आयु बढ़ाने के लिए आहार करते हैं, न स्वाद के लिए करते हैं और न शरीर के उपचय या तेज के लिए करते हैं। वे ज्ञान, संयम और ध्यान की सिद्धि के लिए ही आहार करते हैं।

४०७-४०८ जैसे भ्रमर पुष्पों को तनिक भी पीडा पहुँचाये बिना रस ग्रहण करता है और अपने को तृप्त करता है, वैसे ही लोक में विचरण करनेवाले बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से रहित श्रमण दाता को किसी भी प्रकार का कष्ट दिये बिना उसके द्वारा दिया गया प्रासुक आहार ग्रहण करते हैं। यही उनकी एषणा समिति है।

४०९ यदि प्रासुक-भोजी साधु आधाकर्म† से युक्त एवं अपने उद्देश्य से बनाया गया भोजन करता है तो वह दोष का भागी हो जाता है। किन्तु यदि वह उद्गमादि दोषों से रहित शुद्ध भोजन की गवेषणापूर्वक कदाचित् आधाकर्म से युक्त भोजन भी कर लेता है तो भावों से शुद्ध होने के कारण वह शुद्ध है।

४१० यतना (विवेक-) पूर्वक प्रवृत्ति करनेवाला मुनि अपने दोनों प्रकार के उपकरणों को आँखों से देखकर तथा प्रमार्जन करके उठाये और रखे। यही आदान-निक्षेपण समिति है।

४११ साधु को मल-मूत्र का विसर्जन ऐसे स्थान पर करना चाहिए जहाँ एकान्त हो, हरित (गीली) वनस्पति तथा त्रस जीवों से रहित हो, गाँव आदि से दूर हो, जहाँ कोई देख न सके, विशाल विस्तीर्ण हो, कोई विरोध न करता हो। यह प्रतिष्ठापना या उत्सर्ग समिति है।

---

* आहार बनाते समय होनेवाले दोषों को उद्गमदोष कहते हैं। आहार ग्रहण करने में होनेवाले दोषों को अशनदोष कहते हैं। उत्पादनविषयक दोषों को उत्पादन-दोष कहते हैं।

† अधिक आरम्भ तथा हिंसा द्वारा तैयार किया गया भोजन।

(इ) गुप्ति

४१२ सरम्भसमारभे, आरमे य तहेव य ।
मण पवत्तमाण तु, नियत्तेज्ज जय जई ॥२९॥
सरम्भे समारम्भे, आरम्भे च तथव च ।
मन प्रयतमान तु, निवत्तयेद यत्त यति ॥२९॥

४१३ सरम्भसमारभे, आरभे य तहेव य ।
वय पवत्तमाण तु, नियत्तेज्ज जय जई ॥३०॥
सरम्भे समारम्भे, आरम्भे च तथव च ।
वच प्रवतमान तु, निवत्तयेद् यत यति ॥३०॥

४१४ सरम्भसमारभे, आरभम्मि तहेव य ।
काय पवत्तमाण तु, नियत्तेज्ज जय जई ॥३१॥
सरम्भे समारम्भे, आरम्भे तथैव च ।
काय प्रवतमान तु, निवत्तयेद यत यति ॥३१॥

४१५ खेत्तस्स वई णयरस्स, खाइया अहव होइ पायारो ।
तह पावस्स णिरोहो, ताओ गुत्तीओ साहुस्स ॥३२॥
क्षत्रस्य वत्तिनगरस्य, खातिकाऽथवा भवति प्राकार ।
तथा पापस्य निराध, ता गुप्तय साधा ॥३२॥

४१६ एया पवयणमाया, जे सम्म आयरे मुणी ।
से खिप्प सव्वससारा, विप्पमुच्चइ पडिए ॥३३॥
एता प्रवचनमातृ, य सम्यगाचरेन्मुनि ।
स क्षिप्र मवममारात्, विप्रमुच्यते पण्डित ॥३३॥

२७ आवश्यकसूत्र

४१७ एरिसभेदब्भासे, मज्झत्थो होदि तेण चारित्त ।
त दढकरणनिमित्त, पडिक्कमणादी पवक्खामि ॥१॥
ईदृग्भेदाभ्यासे, मध्यस्थो भवति तेन चारित्रम् ।
तद् दृढीकरणनिमित्त, प्रतिक्रमणादीन् प्रवक्ष्यामि ॥१॥

(इ) गुप्ति

४१२ यतनासम्पन्न (जागरूक) यति सरम्भ, समारम्भ व आरम्भ मे प्रवत्तमान मन को रोके—उसका गोपन करे ।

४१३ यतनासम्पन्न यति सरम्भ, समारम्भ व आरम्भ मे प्रवत्तमान वचन को रोके—उसका गोपन करे ।

४१४ यतनासम्पन्न यति सरम्भ, समारम्भ व आरम्भ मे प्रवतमान काया को रोके—उसका गोपन करे ।

४१५ जैसे खेत की बाड और नगर की खाई या प्राकार उनकी रक्षा करते है, वैसे ही पाप निरोधक गुप्तियाँ साधु के सयम की रक्षक होती है ।

४१६ जो मुनि इन आठ प्रवचन माताओ का सम्यक् आचरण करता है, वह ज्ञानी शीघ्र ससार मे मुक्त हो जाता है ।

२७ आवश्यकसूत्र

४१७ इस प्रकार के भेद ज्ञान का अभ्यास हो जाने पर जीव माध्यस्थ भावयुक्त हो जाता है और इससे चारित्र होता है । इसीको दृढ करने के लिए प्रतिक्रमण आदि (षडावश्यक क्रियाओ) का कथन करता हूँ ।

४१८ परिचत्ता परभाव, अप्पाण झादि णिम्मलसहाव ।
अप्पवसो सो होदि हु, तस्स दु कम्म भणति आवास ॥२॥
परित्यक्त्वा परभाव, आत्मान ध्यायति निमलस्वभावम् ।
आत्मवश स भवति खलु, तस्य तु कम्म भणन्ति आवश्यकम् ॥२॥

४१९ आवास जइ इच्छसि, अप्पसहावेसु कुणदि थिरभाव ।
तेण दु सामइयगुण, सपुण्ण होदि जीवस्स ॥३॥
आवश्यक यदीच्छसि, आत्मस्वभावेषु करोति स्थिरभावम् ।
तेन तु सामायिकगुण, सम्पूर्ण भवति जीवस्य ॥३॥

४२० आयासएण हीणो, पब्भट्ठो होदि चरणदो समणो ।
पुव्वुत्तकमेण पुणो, तम्हा आवासय कुज्जा ॥४॥
आवश्यकेन हीन, प्रभ्रष्टो भवति चरणत श्रमण ।
पूर्वोक्तक्रमेण पुन, तस्मादावश्यक कुर्यात् ॥४॥

४२१ पडिकमणपहुदिकिरिय, कुब्वतो णिच्छयस्स चारित्त ।
तेण दु विरागचरिए, समणो अब्भुट्ठिदो होदि ॥५॥
प्रतिक्रमणप्रभृतिक्रिया, कुर्वन् निश्चयस्य चारित्रम् ।
तेन तु विरागचरित्रे, श्रमणोऽभ्युत्थितो भवति ॥५॥

४२२ वयणमय पडिकमण, वयणमय पच्चखाण णियम च ।
आलोयण वयणमय, त सव्व जाण सज्झाउ ॥६॥
वचनमय प्रतिक्रमण, वचनमय प्रत्याख्यान नियमश्च ।
आलोचन वचनमय, तत्सव जानीहि स्वाध्यायम् ॥६॥

४२३ जदि सक्कदि कादु जे, पडिकमणादि करेज्ज झाणमय ।
सत्तिविहीणो जा जइ, सद्दहण चेव कायव्व ॥७॥
यदि शक्यते कर्त्तुम्, प्रतिक्रमणादिक कुर्याद् ध्यानमयम् ।
शक्तिविहीनो यावद्यदि, श्रद्धान चैव कर्तव्यम् ॥७॥

४२४ सामाइय चउवीसत्थओ वदणय ।
पडिक्कमण काउस्सग्गो पच्चक्खाण ॥८॥
सामायिकम् चतुर्विशतिस्तव वन्दनकम् ।
प्रतिक्रमणम्, कायोत्सर्ग प्रत्याख्यानम् ॥८॥

४१८ पर-भाव का त्याग करके निर्मल-स्वभावी आत्मा का ध्याता आत्मवशी होता है। उसके कर्म को आवश्यक कहा जाता है।

४१९ यदि तू प्रतिक्रमण आदि आवश्यक कर्मों की इच्छा रखता है, तो अपने को आत्मस्वभाव मे स्थिर कर। इससे जीव का सामायिक गुण पूर्ण होता है—उसमें समता आती है

४२० जो श्रमण आवश्यक-कर्म नही करता, वह चारित्र से भ्रष्ट है। अत पूर्वोक्त क्रम से आवश्यक अवश्य करना चाहिए।

४२१ जो निश्चयचारित्रस्वरूप प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ करता है, वह श्रमण वीतराग-चारित्र में समुत्थित या आरूढ होता है।

४२२ (परन्तु) वचनमय प्रतिक्रमण, वचनमय प्रत्याख्यान, वचनमय नियम और वचनमय आलोचना—ये सब तो केवल स्वाध्याय है, (चारित्र नही है)।

४२३ (अतएव) यदि करने की शक्ति और सम्भावना हो तो ध्यानमय प्रतिक्रमण आदि कर। इस समय यदि शक्ति नही है तो उनकी श्रद्धा करना ही कर्तव्य है—श्रेयस्कर है।

४२४ सामायिक, चतुर्विंशति जिन-स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान—ये छह आवश्यक है।

४२५ समभावो सामइयं, तणकंचण-सत्तुमित्तविसओ त्ति ।
निरभिस्संगं चित्तं, उचियपवित्तिप्पहाणं च ॥९॥
समभावो सामायिकं, तृणकाञ्चनशत्रुमित्रविषय इति ।
निरभिष्वङ्गं चित्तं, उचितप्रवृत्तिप्रधानं च ॥९॥

४२६ वयणोच्चारणकिरियं, परिचत्ता वीयरायभावेण ।
जो झायदि अप्पाणं, परमसमाही हवे तस्स ॥१०॥
वचनोच्चारणक्रियां परित्यक्त्वा वीतरागभावेन ।
यो ध्यायत्यात्मानं, परमसमाधिर्भवेत् तस्य ॥१०॥

४२७ विरदो सव्वसावज्जे, तिगुत्तो पिहिदिंदिओ ।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥११॥
विरतः सर्वसावद्ये, त्रिगुप्तः पिहितेन्द्रियः ।
तस्य सामायिकं स्थायि, इति केवलिशासने ॥११॥

४२८ जो समो सव्वभूदेसु, थावरेसु तसेसु वा ।
तस्स सामायिगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥१२॥
यः समः सर्वभूतेषु, स्थावरेषु त्रसेषु वा ।
तस्य सामायिकं स्थायि, इति केवलिशासने ॥१२॥

४२९ उसहादिजिणवराणं, णामणिरुत्तिं गुणाणुकित्तिं च ।
काऊण अच्चिदूण य, तिसुद्धिपणामो थवो णेओ ॥१३॥
ऋषभादिजिनवराणां, नामनिरुक्तिं गुणानुकीर्तिं च ।
कृत्वा अर्चित्वा च, त्रिशुद्धिप्रणामः स्तवो ज्ञेयः ॥१३॥

४३० दव्वे खेत्ते काले, भावे य कयावराहसोहणयं ।
णिंदणगरहणजुत्तो, मणवचकायेण पडिक्कमणं ॥१४॥
द्रव्ये क्षेत्रे काले, भावे च कृतापराधशोधनकम् ।
निन्दनगर्हणयुक्तो, मनोवचःकायेन प्रतिक्रमणम् ॥१४॥

४३१ आलोचणणिंदणगरहणाहिं अब्भुट्ठिओ अकरणाए ।
तं भावपडिक्कमणं, सेसं पुण दव्वदो भणिअं ॥१५॥
आलोचननिन्दनगर्हणाभिः अभ्युत्थितश्चाकरणाय ।
तद् भावप्रतिक्रमणं, शेषं पुनर्द्रव्यतो भणितम् ॥१५॥

४२५ तिनके और सोने में, शत्रु और मित्र में समभाव रखना ही सामायिक है। अर्थात् रागद्वेषरूप अभिष्वंगरहित (ध्यान या अध्ययनरूप) उचित प्रवृत्तिप्रधान चित्त को सामायिक कहते हैं।

४२६ जो वचन उच्चारणकी क्रिया का परित्याग करके वीतरागभाव से आत्मा का ध्यान करता है, उसके परमसमाधि या सामायिक होती है।

४२७ जो सर्व-सावद्य (आरम्भ) से विरत है, त्रिगुप्तियुक्त है तथा जितेंद्रिय है, उसके सामायिक स्थायी होती है, ऐसा केवलि-शासन में कहा गया है।

४२८ जो सर्वभूतों (स्थावर व त्रस जीवों) के प्रति समभाव रखता है, उसके सामायिक स्थायी होती है, ऐसा केवलि शासन में कहा गया है।

४२९ ऋषभ आदि चौबीस तीर्थंकरों के नामों की निरुक्ति तथा उनके गुणों का कीर्तन करना, गंध-पुष्प-अक्षतादि से पूजा-अर्चा करके, मन वचन काय की शुद्धिपूर्वक प्रणाम करना चतुर्विंशतिस्तव नामक दूसरा आवश्यक है।

४३० निंदा तथा गर्हा से युक्त साधु का मन वचन काय के द्वारा, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के व्रताचरण विषयक दोषों या अपराधों की आचार्य के समक्ष आलोचनापूर्वक शुद्धि करना प्रतिक्रमण कहलाता है।

४३१ आलोचना, निंदा तथा गर्हा के द्वारा प्रतिक्रमण करने में तथा पुनः दोष न करने में उद्यत साधु के भाव प्रतिक्रमण होता है। शेष सब तो (प्रतिक्रमण-पाठ आदि करना) द्रव्य प्रतिक्रमण है।

४३२ मोत्तूण वयणरयण, रागादीभाववारण किच्चा ।
अप्पाण जो झायदि, तस्स दु होदि त्ति पडिकम्मण ॥१६॥
मुक्त्वा वचनरचना, रागादिभाववारण कृत्वा ।
आत्मान यो ध्यायति, तस्य तु भवतीति प्रतिक्रमणम् ॥१६॥

४३३ झाणणिलीणो साहू, परिचाग कुणइ सव्वदोसाण ।
तम्हा दु झाणमेव हि, सव्वऽदिचारस्स पडिक्कमण ॥१७॥
ध्याननिलीन साधु, परित्याग करोति सवदोपाणाम् ।
तस्मात् तु ध्यानमेव हि, सर्वातिचारस्य प्रतिक्रमणम् ॥१७॥

४३४ देवस्सियणियमादिसु, जहुत्तमाणेण उत्तकालम्हि ।
जिणगुणचिंतणजुत्तो, काउसग्गो तणुविसग्गो ॥१८॥
दैवसिकनियमादिपु, यथोक्तमानेन उक्तकाले ।
जिनगुणचिन्तनयुक्त, कायोत्सर्गस्तनुविसर्ग ॥१८॥

४३५ जे केइ उवसग्गा, देवमाणुस-तिरियऽचेदणिया ।
ते सव्वे अधिआसे, काउसग्गे ठिदो सतो ॥१९॥
ये केचनोपसर्गा, देवमानुप तिर्यगचेतनिका ।
तान् सर्वानध्यासे, कायोत्सर्गे स्थित सन् ॥१९॥

४३६ मोत्तूण सयलजप्पम-णागयसुहमसुहवारण किच्चा ।
अप्पाण जो झायदि, पच्चक्खाण हवे तस्स ॥२०॥
मुक्त्वा सकलजल्पम-नागतशुभाशुभनिवारण कृत्वा ।
आत्मान यो ध्यायति, प्रत्याख्यान भवेत् तस्य ॥२०॥

४३७ णियभाव ण वि मुच्चइ, परभाव णेव गेण्हए केइ ।
जाणदि पस्सदि सव्व, सोऽह इदि चिंतए णाणी ॥२१॥
निजभाव नापि मुञ्चति, परभाव नैव गृह्णाति कमपि ।
जानाति पश्यति सर्व, सोऽहम् इति चिन्तयेद् ज्ञानी ॥२१॥

४३८ ज किंचि मे दुच्चरित, सव्व तिविहेण वोसिरे ।
सामाइय तु तिविह, करेमि सव्व णिरायार ॥२२॥
यत्किंचिन्मे दुश्चरित्र, सर्व त्रिविधेन विसृजामि ।
सामायिक तु त्रिविध, करोमि सर्व निराकारम् ॥२२॥

२८ तपसूत्र

(अ) वाह्यतप

४३९ जहाँ कषायों का निरोध, ब्रह्मचर्य का पालन जिनपूजन तथा अनशन (आत्मलाभ के लिए) किया जाता है, वह सब तप है। विशेषकर मुग्ध अर्थात् भक्तजन यही तप करते है।

४४० तप दो प्रकार का है—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य तप छह प्रकार का है। इसी तरह आभ्यन्तर तप भी छह प्रकार का कहा गया है।

४४१ अनशन, अवमोदय (ऊनोदरिका), भिक्षाचर्या, रस-परित्याग, कायक्लेश और सलीनता—इस तरह वाह्यतप छह प्रकार का है।

४४२ जो कर्मो की निर्जरा के लिए एक-दो दिन आदि का (यथाशक्ति) प्रमाण तय करके आहार का त्याग करता है उसके अनशन तप होता है।

४४३ जो शास्त्राभ्यास (स्वाध्याय) के लिए अल्प-आहार करते है वे ही आगम मे तपस्वी माने गये है। श्रुतविहीन अनशन तप तो केवल भूख का आहार करना है—भूखे मरना है।

४४४ वास्तव में वही अनशन-तप है जिसमे मन में अमगल की चिन्ता उत्पन्न न हो, इन्द्रियो की हानि (शिथिलता) न हो तथा मन वचन कायरूप योगो की हानि (गिरावट) न हो।

२८ तपसूत्र

(अ) बाह्यतप

४३९ जत्थ कसायणिरोहो, बंभ जिणपूयण अणसण च ।
सो सव्वो चेव तवो, विसेसओ मुद्धलोयम्मि ॥१॥
यत्र कषायनिरोधो, ब्रह्म जिनपूजनम् अनशन च ।
तत् सर्व चैव तपो, विशेषत मुग्धलोके ॥१॥

४४० सो तवो दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भतरो तहा ।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भतरो तवो ॥२॥
तत् तपो द्विविध उक्त, बाह्यमाभ्यन्तर तथा ।
बाह्य षड्विध उक्त एवमाभ्यन्तर तप ॥२॥

४४१ अणसणमूणोयरिया, भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ ।
कायकिलेसो सलीणया य, बज्झो तवो होइ ॥३॥
अनशनमूनोदरिका, भिक्षाचर्या च रसपरित्याग ।
कायक्लेश सलीनता च, बाह्य तपो भवति ॥३॥

४४२ कम्माण णिज्जरट्ठ, आहार परिहरेइ लीलाए ।
एगदिणादिपमाण, तस्स तव अणसण होदि ॥४॥
कर्मणा निर्जरार्थम्, आहार परिहरति लीलया ।
एकदिनादिप्रमाण, तस्य तप अनशन भवति ॥४॥

४४३ जे पयणुभत्तपाणा, सुयहेऊ ते तवस्सिणो समए ।
जो अ तवो सुयहीणो, बाहिरयो सो छुहाहारो ॥५॥
ये प्रतनुभक्तपाना, श्रुतहेतोस्ते तपस्विन समये ।
यच्च तप श्रुतहीन, बाह्य स क्षुदाधार ॥५॥

४४४ सो नाम अणसणतवो, जेण मणोऽमगुल न चितेइ ।
जेण न इदियहाणी, जेण य जोगा न हायति ॥६॥
तद् नाम अनशनतपो येन मनोऽमङ्गल न चिन्तयति ।
येन नेन्द्रियहानिर्येन च योगा न हीयन्ते ॥६॥

२८ तपसूत्र

(अ) बाह्यतप

४३९ जहां कषायों का निरोध, ब्रह्मचर्य का पालन जिनपूजन तथा अनशन (आत्मलाभ के लिए) किया जाता है, वह सब तप है। विशेषकर मुग्ध अर्थात् भक्तजन यही तप करते हैं।

४४० तप दो प्रकार का है—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य तप छह प्रकार का है। इसी तरह आभ्यन्तर तप भी छह प्रकार का कहा गया है।

४४१ अनशन, अवमोदय (ऊनोदरिका), भिक्षाचर्या, रस-परित्याग, कायक्लेश और संलीनता—इस तरह बाह्यतप छह प्रकार का है।

४४२ जो कर्मों की निर्जरा के लिए एक-दो दिन आदि का (यथाशक्ति) प्रमाण तय करके आहार का त्याग करता है, उसके अनशन तप होता है।

४४३ जो शास्त्राभ्यास (स्वाध्याय) के लिए अल्प-आहार करते हैं वे ही आगम में तपस्वी माने गये हैं। श्रुतविहीन अनशन तप तो केवल भूख का आहार करना है—भूखे मरना है।

४४४ वास्तव में वही अनशन-तप है जिससे मन में अमंगल की चिन्ता उत्पन्न न हो, इन्द्रियों की हानि (शिथिलता) न हो तथा मन वचन कायरूप योगों की हानि (गिरावट) न हो।

४४५ बलं थामं च पेहाए, सद्धामारोग्गमप्पणो।
खेत्तं कालं च विन्नाय, तहप्पाणं निजुंजए ॥७॥
बलं स्थामं च प्रेक्ष्य श्रद्धाम् आरोग्यम् आत्मनः।
क्षेत्रं कालं च विज्ञाय तथा आत्मानं नियुञ्जीत ॥७॥

४४६ उवसमणो अक्खाणं, उववासो वण्णिदो समासेण।
तम्हा भुंजता वि य, जिदिंदिया होंति उववासा ॥८॥
उपशमनम् अक्षाणाम्, उपवासः वर्णितः समासेन।
तस्मात् भुञ्जाना अपि च जितेन्द्रिया भवन्ति उपवासाः ॥८॥

४४७ छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं, अबहुसुयस्स जा सोही।
तत्तो बहुतरगुणिया, हविज्ज जिमियस्स नाणिस्स ॥९॥
षष्ठाष्टमदशमद्वादशैः अबहुश्रुतस्य या शुद्धिः।
ततो बहुतरगुणिता, भवेत् जिमितस्य ज्ञानिनः ॥९॥

४४८ जो जस्स उ आहारो, तत्तो ओमं तु जो करे।
जहन्नेणेगसित्थाई, एवं दव्वेण ऊ भवे ॥१०॥
यो यस्य त्वाहारः, ततोऽवमं तु यः कुर्यात्।
जघन्येनैकसिक्थादि एवं द्रव्येण तु भवेत् ॥१०॥

४४९ गोयरपमाणदायगभायणणाणाविधाणं जं गहणं।
तह एसणस्स गहणं, विविधस्स य वुत्तिपरिसंखा ॥११॥
गोचरप्रमाणदायक-भाजननानाविधानं यद् ग्रहणम्।
तथा एषणीयस्य ग्रहणं, विविधस्य च वृत्तिपरिसंख्या ॥११॥

४५० खीरदहिसप्पिमाई, पणीयं पाणभोयणं।
परिवज्जणं रसाणं तु, भणियं रसविवज्जणं ॥१२॥
क्षीरदधिसर्पिरादि प्रणीतं पानभोजनम्।
परिवर्जनं रसानां तु भणितं रसविवर्जनम् ॥१२॥

४५१ एगंतमणावाए, इत्थीपसुविवज्जिए।
सयणासणसेवणया, विवित्तसयणासणं ॥१३॥
एकान्तेऽनापाते स्त्रीपशुविवर्जिते।
शयनासनसेवनता, विविक्तशयनासनम् ॥१३॥

४४५ अपने बल, तेज, श्रद्धा, तथा आरोग्य का निरीक्षण करके तथा क्षेत्र और काल को जानकर अपने को उपवास में नियुक्त करना चाहिए। (क्योंकि शक्ति से अधिक उपवास करने से हानि होती है।)

४४६ सक्षेप मे इन्द्रियो के उपशमन को ही उपवास कहा गया है। अत जितेन्द्रिय साधु भोजन करते हुए भी उपवासी ही होते है।

४४७ अबहुश्रुत अर्थात अज्ञानी तपस्वी की जितनी विशुद्धि दो-चार दिनो के उपवास से होती है, उससे बहुत अधिक विशुद्धि नित्य भोजन करनेवाले ज्ञानी की होती है।

४४८ जो जितना भोजन कर सकता है, उसमे से कम से कम एक सिक्थ अर्थात् एक कण अथवा एक ग्रास आदि के रूप मे कम भोजन करना द्रव्यरूपेण ऊनोदरी तप है।

४४९ आहार के लिए निकलनेवाले साधु का, वह वृत्तिपरिसख्यान नामक तप है जिसमें वह ग्रहण का प्रमाण करता है कि आज भिक्षा के लिए इतने घरो मे जाऊँगा, अमुक प्रकार के दाता द्वारा दिया गया अथवा अमुक प्रकार के बर्तन मे रखा गया आहार ग्रहण करूँगा अमुक प्रकार का जैसे माँड, सत्तू आदि का भोजन मिलेगा तो करूँगा आदि-आदि।

४५० दूध दही घी आदि पौष्टिक भोजन-पान आदि का त्याग करने को रस-परित्याग नामक तप कहा गया है।

४५१ एकान्त अनापात (जहाँ कोई आता जाता न हो) तथा स्त्री-पुरुषादि से रहित स्थान में शयन एव आसन ग्रहण करना, विविक्त-शयनासन (प्रतिसलीनता) नामक तप है।

४५२ ठाणा वीरासणाईया, जीवस्स उ सुहावहा ।
उग्गा जहा धरिज्जंति, कायकिलेस तमाहिय ॥१४॥
स्थानानि वीरासनादीनि, जीवस्य तु सुखावहानि ।
उग्राणि यथा धार्यन्ते, कायक्लेश स आख्यात ॥१४॥

४५३ सुहेण भाविद णाण, दुहे जादे विणस्सदि ।
तम्हा जहाबल जोई, अप्पा दुक्खेहि भावए ॥१५॥
सुखेन भावित ज्ञान, दुःखे जाते विनश्यति ।
तस्मात् यथाबल योगी, आत्मान दुःखै भावयेत् ॥१५॥

४५४–४५५ ण दुक्ख ण सुख वा वि, जहाहेतु तिगिच्छिति ।
तिगिच्छिए सुजुत्तस्स, दुक्ख वा जइ वा सुह ॥१६॥
मोहक्खए उ जुत्तस्स, दुक्ख वा जइ वा सुह ।
मोहक्खए जहाहेउ, न दुक्ख न वि वा सुह ॥१७॥
न दुःख न सुख वाऽपि यथाहेतु चिकित्सति ।
चिकित्सते सुयुक्तस्य दुःख वा यदि वा सुखम ॥१६॥
मोहक्षये तु युक्तस्य, दुःख वा यदि वा सुखम ।
मोहक्षये यथाहेतु न दुःख नाऽपि वा सुखम् ॥१७॥

(आ) आभ्यन्तरतप

४५६ पायच्छित्त विणओ, वेयावच्च तहेव सज्झायो ।
झाण च विउस्सग्गो, एसो अब्भितरो तवो ॥१८॥
प्रायश्चित्त विनय, वैयावृत्य तथैव स्वाध्याय ।
ध्यान च व्युत्सर्ग, एतदाभ्यन्तर तप ॥१८॥

४५७ वद-समिदि-सील-सजम-परिणामो करणणिग्गहो भावो ।
सो हवदि पायच्छित्त, अणवरय चेव कायव्वो ॥१९॥
व्रत समिति शील-सयम परिणाम करणनिग्रहो भाव ।
स भवति प्रायश्चित्तम्, अनवरत चैव कर्तव्य ॥१९॥

४५८ कोहादि-सगब्भाव-क्खयपहुदि-भावणाए णिग्गहण ।
पायच्छित्त भणिद, णियगुणचिंता य णिच्छयदो ॥२०॥
क्रोधादि-स्वकीयभाव-क्षयप्रभृति भावनाया निग्रहणम ।
प्रायश्चित्त भणित, निजगुणचिन्ता च निश्चयत ॥२०॥

४५२ गिरा, कन्दरा आदि भयकर स्थानो में, आत्मा के लिए सुखावह, वीरासन आदि उग्र आसनो का अभ्यास करना या धारण करना कायक्लेश नामक तप है।

४५३ सुखपूर्वक प्राप्त किया हुआ ज्ञान दु ख के आने पर नष्ट हो जाता है। अत योगी को अपनी शक्ति के अनुसार दु खो के द्वारा अर्थात् कायक्लेशपूर्वक आत्म चिन्तन करना चाहिए।

४५४–४५५ रोग की चिकित्सा मे रोगी का न सुख ही हेतु होता है न दु ख ही। चिकित्सा कराने पर रोगी को दु ख भी हो सकता है और सुख भी। इसी तरह मोह के क्षय में सुख और दु ख दोनो हेतु नही होते। मोह के क्षय म प्रवृत्त होने पर साधक को सुख भी हो सकता है और दु ख भी। (कायक्लेश तप मे साधक को शरीरगत दु ख या बाह्य व्याधियो को सहन करना पडता है। लेकिन वह मोहक्षय की साधना का अग होने से अनिष्टकारी नही होता।)

(आ) आभ्यन्तरतप

४५६ प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग—इस तरह आभ्यन्तर तप छह प्रकार का है।

४५७ व्रत, समिति, शील, सयम-परिणाम तथा इन्द्रियनिग्रह का भाव ये सब प्रायश्चित्त तप है जो निरन्तर कर्तव्य नित्य करणीय है।

४५८ क्रोध आदि स्वकीय भावो के क्षय या उपशम आदि की भावना करना तथा निजगुणो का चिन्तन करना निश्चय-प्रायश्चित्त तप है।

४५९ णताणतभवेण, समज्जिअ-सुहअसुहकम्मसदोहो ।
तवचरणेण विणस्सदि, पायच्छित्त तव तम्हा ।।२१।।
अनन्तानन्तभवेन, समर्जित-शुभाशुभकर्मसन्दोह ।
तपश्चरणेन विनश्यति, प्रायश्चित्त तपस्तस्मात् ।।२१।।

४६० आलोयण पडिकमण, उभयविवेगो तहा विउस्सग्गो ।
तव छेदो मूल वि य, परिहारो चेव सद्दहणा ।।२२।।
आलोचना प्रतिक्रमण, उभयविवेक तथा व्युत्सर्ग ।
तप छेदो मूलमपि च परिहार चैव श्रद्धान ।।२२।।

४६१ अणाभोगकिद कम्म, ज किं पि मणसा कद ।
त सव्व आलोचेज्ज हु, अव्वाखित्तेण चेदसा ।।२३।।
अनाभोगकृत कर्म, यत्किमपि मनसा कृतम् ।
तत्सर्वमालोचयेत् खलु अव्याक्षिप्तेन चेतसा ।।२३।।

४६२ जह बालो जपन्तो, कज्जमकज्ज च उज्जुय भणइ ।
त तह आलोइज्जा, मायामयविप्पमुक्को वि ।।२४।।
यथा बालो जल्पन्, कार्यमकार्य च ऋजुक भणति ।
तत तथाऽऽलोचयेन्मायामदविप्रमुक्त एव ।।२४।।

४६३-४६४ जह कटएण विद्धो, सव्वगे वेयणद्दिओ होइ ।
तह चेव उद्धियम्मि उ, निस्सल्लो निव्वुओ होइ ।।२५।।
एवमणुद्धियदोसो, माइल्लो तेण दुक्खिओ होइ ।
सो चेव चत्तदोसो, सुविसुद्धो निव्वुओ होइ ।।२६।।
यथा कण्टकेन विद्ध, सर्वाङ्गे वेदनार्दितो भवति ।
तथैव उद्धृते तु निश्शल्यो निर्वृतो भवति ।।२५।।
एवमनुद्धृतदोषो, मायावी तेन दुःखितो भवति ।
स एव त्यक्तदोष, सुविशुद्धो निर्वृतो भवति ।।२६।।

४६५ जो पस्सदि अप्पाण, समभावे सठवित्तु परिणाम ।
आलोयणमिदि जाणह, परमजिणदस्स उवएस ।।२७।।
य पश्यत्यात्मान, समभावे सस्थाप्य परिणामम् ।
आलोचनमिति जानीत, परमजिनेन्द्रस्योपदेशम् ।।२७।।

४५९ अनन्तानन्त भवो मे उपार्जित शुभाशुभ कर्मो के समूह का नाश तपश्चरण से होता है। अत तपश्चरण करना प्रायश्चित्त है।

४६० प्रायश्चित्त दस प्रकार का है—आलोचना, प्रतिक्रमण, उभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार तथा श्रद्धान।

४६१ मन-वचन-काय द्वारा किये जानेवाले शुभाशुभ कर्म दो प्रकार के होते है—आभोगकृत और अनाभोगकृत। दूसरो द्वारा जाने गये कर्म आभोगकृत है और दूसरो द्वारा न जाने गये कर्म अनाभोगकृत है। दोनो प्रकार के कर्मो की तथा उनमें लगे दोषो की आलोचना गुरु या आचार्य के समक्ष निराकुल चित्त से करनी चाहिए।

४६२ जैसे बालक अपने कार्य-अकार्य को सरलतापूर्वक मा के समक्ष व्यक्त कर देता है, वैसे ही साधु को भी अपने समस्त दोषो की आलोचना माया मद (छल-छद्म) त्यागकर करनी चाहिए।

४६३–४६४ जैसे काटा चुभने पर सारे शरीर में वेदना या पीडा होती है और काटे के निकल जाने पर शरीर नि शल्य अर्थात् सर्वांग सुखी हो जाता है, वैसे ही अपने दोषो को प्रकट न करनेवाला मायावी दु खी या व्याकुल रहता है और उनको गुरु के समक्ष प्रकट कर देने पर सुविशुद्ध होकर सुखी हो जाता है—मन में कोई शल्य नहीं रह जाता।

४६५ अपने परिणामो को समभाव में स्थापित करके आत्मा को देखना ही आलोचना है। ऐसा जिनेन्द्रदेव का उपदेश है।

४६६ अब्भुट्ठाण अजलिकरण, तहेवासणदायण ।
गुरुभत्तिभावसुस्सूसा, विणओ एस वियाहिओ ॥२८॥
अभ्युत्थानमञ्जलिकरण, तथैवासनदानम् ।
गुरुभक्तिभावशुश्रूषा, विनय एप व्याख्यात ॥२८॥

४६७ दसणणाणे विणओ, चरित्ततव-ओवचारिओ विणओ ।
पचविहो खलु विणओ, पचमगइणाइगो भणिओ ॥२९॥
दशनज्ञाने विनय-श्चारित्रतप ओपचारिको विनय ।
पञ्चविध खलु विनय, पञ्चमगतिनायको भणित ॥२९॥

४६८ एकम्मि हीलियम्मि, हीलिया हुति ते सव्वे ।
एक्कम्मि पूइयम्मि, पूइया हुति सव्वे ॥३०॥
एकस्मिन् हीलिते, हीलिता भवन्ति सर्वे ।
एकस्मिन् पूजिते पूजिता भवन्ति सर्वे ॥३०॥

४६९ विणओ सासणे मूल, विणीओ सजओ भवे ।
विणयाओ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तवो ? ॥३१॥
विनय शासने मूल, विनीत सयत भवेत् ।
विनयात् विप्रमुक्तस्य, कुतो धम कुत तप ? ॥३१॥

४७० विणओ मोक्खद्दार, विणयादो सजमो तवो णाण ।
विणएणाराहिज्जदि, आइरिओ सव्वसघो य ॥३२॥
विनयो मोक्षद्वार, विनयात् सयमस्तपो ज्ञानम् ।
विनयेनाराध्यते, आचाय सवसघश्च ॥३२॥

४७१ विणयाहीया विज्जा, देंति फल इह परे य लोगम्मि ।
न फलति विणयहीणा, सस्साणि व तोयहीणाइ ॥३३॥
विनयाधीता विद्या, ददति फलम् इह परत्र च लोके ।
न फलन्ति विनयहीना, सस्यानीव तोयहीनानि ॥३३॥

४७२ तम्हा सव्वपयत्ते, विणीयत्त मा कदाइ छडेज्जा ।
अप्पसुदो वि य पुरिसो, खवेदि कम्माणि विणएण ॥३४॥
तस्मात् सवप्रयत्ने, विनीतत्व मा कदाचित् छदयेत् ।
अल्पश्रुतोऽपि च पुरुप, क्षपयति कर्माणि विनयेन ॥३४॥

४६६ गुरु तथा वृद्धजनों के समक्ष आने पर खड़े होना, हाथ जोड़ना, उन्हें उच्च आसन देना, गुरुजनों की भावपूर्वक भक्ति तथा सेवा करना विनय तप है।

४६७ दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय, तपविनय और औपचारिकविनय—ये विनय तप के पाँच भेद कहे गये हैं, जो पंचमगति अर्थात् मोक्ष में ले जाते हैं।

४६८ एक के तिरस्कार में सबका तिरस्कार होता है और एक की पूजा में सबकी पूजा होती है। (इसलिए जहाँ कहीं कोई पूज्य या वृद्धजन दिखाई दें, उनका विनय करना चाहिए।)

४६९ विनय जिनशासन का मूल है। संयम तथा तप से विनीत बनना चाहिए। जो विनय से रहित है, उसका कैसा धर्म और कैसा तप?

४७० विनय मोक्ष का द्वार है। विनय से संयम, तप तथा ज्ञान प्राप्त होता है। विनय से आचार्य तथा सर्वसंघ की आराधना होती है।

४७१ विनयपूर्वक प्राप्त की गयी विद्या इस लोक तथा परलोक में फलदायिनी होती है और विनयविहीन विद्या फलप्रद नहीं होती, जैसे बिना जल के धान्य नहीं उपजता।

४७२ इसलिए सब प्रकार का प्रयत्न करके विनय को कभी नहीं छोड़ना चाहिए। अल्पश्रुत का अभ्यासी पुरुष भी विनय के द्वारा कर्मों का नाश करता है।

४७३ सेज्जोगासणिसेज्जो, तहोवहिपडिलेहणाहि उवग्गहिदे ।
आहारोसहवायण विकिंचण वंदणादीहिं ॥३५॥
शय्यावकाशनिषद्या, तथा उपधिप्रतिलेखनाभि उपगृहीते ।
आहारौषधवाचना विकिंचन वन्दनादिभि ॥३५॥

४७४ अद्धाणतेणसावद रायणदीरोधणासिवे ओमे ।
वेज्जावच्च उत्त, संगहसारक्खणोवेद ॥३६॥
अध्वस्तेनश्वापद-राजनदीराधनाशिवे अवमे ।
वैयावृत्यमुक्त, सग्रहसरक्षणोपेतम् ॥३६॥

४७५ परियट्टणा य वायणा, पडिच्छणाणुवेहणा य धम्मकहा ।
थुदिमंगलसंजुत्तो, पंचविहो होइ सज्झाओ ॥३७॥
परिवर्तना च वाचना पृच्छनाऽनुप्रेक्षणा च धर्मकथा ।
स्तुतिमङ्गलसयुक्त, पञ्चविधो भवति स्वाध्याय ॥३७॥

४७६ पूयादिसु णिरवेक्खो, जिण-सत्थं जो पढेइ भत्तीए ।
कम्ममल-सोहणट्ठं, सुयलाहो सुहयरो तस्स ॥३८॥
पूजादिषु निरपेक्ष, जिनशास्त्र य पठति भक्त्या ।
कर्ममलशोधनार्थ, श्रुतलाभ सुखकर तस्य ॥३८॥

४७७ सज्झायं जाणतो, पंचिंदियसंवुडो तिगुत्तो य ।
होइ य एकग्गमणो, विणएण समाहिओ साहू ॥३९॥
स्वाध्याय जानान, पञ्चेन्द्रियसवृत त्रिगुप्त च ।
भवति च एकाग्रमना, विनयेन समाहित साधु ॥३९॥

४७८ णाणेण ज्झाणसिज्झी, झाणादो सव्वकम्मणिज्जरणं ।
णिज्जरणफलं मोक्खं, णाणब्भासं तदो कुज्जा ॥४०॥
ज्ञानेन ध्यानसिद्धि ध्यानात् सर्वकर्मनिर्जरणम् ।
निर्जरणफल मोक्ष ज्ञानाभ्यास तत कुर्यात् ॥४०॥

४७९ बारसविहम्मि वि तवे, अब्भिंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे ।
न वि अत्थि न वि य होही, सज्झायसमं तवोकम्मं ॥४१॥
द्वादशविधेऽपि तपसि साभ्यन्तरबाह्ये कुशलदृष्टे ।
नापि अस्ति नापि च भविष्यति, स्वाध्यायसम तप कर्म ॥४१॥

४७३ शय्या, वसति, आसन तथा प्रतिलेखन से उपकृत साधुजनो की आहार, औषधि, वाचना, मल-मूत्र विसर्जन तथा वन्दना आदि से सेवा-शुश्रूषा करना वैयावृत्य तप है।

४७४ जो मार्ग में चलने से थक गये है, चोर, श्वापद (हिंस्रपशु), राजा द्वारा व्यथित, नदी की रुकावट, मरी (प्लेग) आदि रोग तथा दुर्भिक्ष से पीडित है, उनकी सार-सम्हाल तथा रक्षा करना वैयावृत्य है।

४७५ स्वाध्याय तप पाँच प्रकार का है—परिवर्तना, वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा और स्तुति मगलपूर्वक धर्मकथा करना।

४७६ आदर-सत्कार की अपेक्षा से रहित होकर जो कर्मरूपी मल को धोने के लिए भक्तिपूर्वक जिनशास्त्रो को पढता है, उसका श्रुतलाभ स्व-पर सुखकारी होता है।

४७७ स्वाध्यायी अर्थात शास्त्रो का ज्ञाता साधु पाँचो इन्द्रियो मे सवृत, तीन गुप्तियो से युक्त, विनय से समाहित तथा एकाग्रमन होता है।

४७८ ज्ञान से ध्यान की सिद्धि होती है। ध्यान से सब कर्मों की निर्जरा होती है। निर्जरा का फल मोक्ष है। अत सतत ज्ञानाभ्यास करना चाहिए।

४७९ बाह्याभ्यन्तर बारह तपो में स्वाध्याय के समान तप न तो है, न हुआ है, न होगा।

४८० सयणासणठाणे वा, जे उ भिक्खू न वावर।
कायस्स विउस्सग्गो, छट्‌ठो सो परिकित्तिओ ॥४२॥
शयनासनस्थाने वा, यस्तु भिक्षुन व्याप्रियते।
कायस्य व्युत्सर्ग, षष्ठ स परिकीर्तित ॥४२॥

४८१ देहमइजडडसुद्धी, सुहदुक्खतितिक्खया अणुप्पेहा।
झायइ य सुह झाण, एगग्गो काउसग्गम्मि ॥४३॥
देहमति जाड्यशुद्धि सुखदु ख तितिक्षता अनुप्रेक्षा।
ध्यायति च शुभ ध्यानम् एकाग्र कायोत्सर्गे ॥४३॥

४८२ तेंसि तु तवो ण सुद्धो, निक्खता जे महाकुला।
ज नेवन्ने वियाणति, न सिलोग पवेज्जइ ॥४४॥
तेषामपि तपो न शुद्ध, निष्क्रान्ता ये महाकुला।
यद् नैवाऽन्ये विजानन्ति न श्लोक प्रवेदयेत् ॥४४॥

४८३ नाणमयवायसहिओ, सीलुज्जलिओ तवो मओ अग्गी।
ससारकरणबीय, दहइ दवग्गी व तणरासि ॥४५॥
ज्ञानमयवातसहित, शीलोज्ज्वलित तपो मतोऽग्नि।
ससारकरणबीज, दहति दवाग्निरिव तृणराशिम् ॥४५॥

२९ ध्यानसूत्र

४८४ सीस जहा सरीरस्स, जहा मूल दुमस्स य।
सव्वस्स साधुधम्मस्स, तहा झाण विधीयते ॥१॥
शीर्ष यथा शरीरस्य यथा मूल द्रुमस्य च।
सवस्य साधुधमस्य तथा ध्यान विधीयते ॥१॥

४८५ ज थिरमज्झवसाण, त झाण ज चलतय चित्त।
त होज्ज भावणा वा, अणुपेहा वा अहव चिंता ॥२॥
यत स्थिरमध्यवसान, तद ध्यान यत चलत्क चित्तम्।
तद् भवेद् भावना वा, अनुप्रेक्षा वाऽथवा चिन्ता ॥२॥

४८० भिक्षु का शयन, आसन और खडे होने में व्यर्थ का कायिक व्यापार न करना, काष्ठवत् रहना, छठा कायोत्सर्ग तप है।

४८१ कायोत्सर्ग करने से ये लाभ प्राप्त होते हैं—

१ देहजाड्यशुद्धि—श्लेष्म आदि दोषों के क्षीण होने से देह की जडता नष्ट होती है।

२ मतिजाड्यशुद्धि—जागरूकता के कारण बुद्धि की जडता नष्ट होती है।

३ सुख-दुःख तितिक्षा—सुख-दुःख को सहने की शक्ति का विकास होता है।

४ अनुप्रेक्षा—भावनाओं के लिए समुचित अवसर का लाभ होता है।

५ एकाग्रता—शुभध्यान के लिए चित्त की एकाग्रता प्राप्त होती है।

४८२ उन महाकुलवालों का तप भी शुद्ध नही है, जो प्रव्रज्या धारणकर पूजा-सत्कार के लिए तप करते हैं। इसलिए कल्याणार्थी को इस तरह तप करना चाहिए कि दूसरे लोगों को पता तक न चले। अपने तप की किसी के समक्ष प्रशंसा भी नही करनी चाहिए।

४८३ ज्ञानमयी वायुसहित तथा शील द्वारा प्रज्वलित तपोमयी अग्नि संसार के कारणभूत कर्म-बीज को वैसे ही जला डालती है, जैसे वन में लगी प्रचण्ड आग तृण-राशि को।

२९ ध्यानसूत्र

४८४ जैसे मनुष्य शरीर में सिर और वृक्ष में उसकी जड उत्कृष्ट या मुख्य है, वैसे ही साधु के समस्त धर्मों का मूल ध्यान है।

४८५ स्थिर अध्यवसान अर्थात् मानसिक एकाग्रता ही ध्यान है। और जो चित्त की चंचलता है उसके तीन रूप हैं—भावना, अनुप्रेक्षा और चिंता।

४८६ लवण व्व सलिलजोए, झाणे चित्त विलीयए जस्स ।
तस्स सुहासुहडहणो, अप्पाअणलो पयासेइ ॥३॥
लवणमिव सलिलयोगे, ध्याने चित्त विलीयते यस्य ।
तस्य शुभाशुभदहनो, आत्मानल प्रकाशयति ॥३॥

४८७ जस्स न विज्जदि रागो, दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो ।
तस्स सुहासुहडहणो, झाणमओ जायए अग्गी ॥४॥
यस्य न विद्यते रागो, द्वेषो मोहो वा योगपरिकर्म ।
तस्य शुभाशुभदहनो, ध्यानमयो जायते अग्नि ॥४॥

४८८ पुव्वाभिमुहो उत्तरमुहो व, होऊण सुइ-समायारो ।
झाया समाहिजुत्तो, सुहासणत्थो सुइसरीरो ॥५॥
पूर्वाभिमुख उत्तरमुखो वा भूत्वा शुचिसमाचार ।
ध्याता समाधियुक्त सुखासनस्थ शुचिशरीर ॥५॥

४८९ पलियक बधेउ, निसिद्धमण-वयणकायवावारो ।
नासग्गनिमियनयणो, मदीकयसासनीसासो ॥६॥
पल्यङ्क बद्ध्वा निपिद्धमनोवचनकायव्यापार ।
न्यासाग्रनिमित्तनयन मन्दीकृतश्वासनिश्वास ॥६॥

४९० गरहियनियदुच्चरिओ, खामियसत्तो नियत्तियपमाओ ।
निच्चलचित्तो ता झाहि, जाव पुरओव्व पडिहाइ ॥७॥
गर्हितनिजदुश्चरित क्षमितसत्त्व निर्वर्तितप्रमाद ।
निश्चलचित्त तावद् ध्याय यावत् पुरत इव प्रतिभाति ॥७॥

४९१ थिरकयजोगाण पुण, मुणीण झाणे सुनिच्चलमणाण ।
गामम्मि जणाइण्णे, सुण्णे रण्णे व ण विसेसो ॥८॥
स्थिरकृतयोगाना पुन, मुनीना ध्याने सुनिश्चलमनसाम् ।
ग्रामे जनाकीर्णे, शून्येऽरण्ये वा न विशेष ॥८॥

४९२ जे इदियाण विसया मणुण्णा, न तेसु भाव निसिरे कयाइ ।
न याऽमणुण्णेसु मण पि कुज्जा, समाहिकामे समणे तवस्सी ॥९॥
य इन्द्रियाणा विषया मनोज्ञा, न तेपु भाव निसृजेत कदापि ।
न चामनोज्ञेपु मनोऽपि कुर्यात् समाधिकाम श्रमणस्तपस्वी ॥९॥

४८६ जैसे पानी का योग पाकर नमक विलीन हो जाता है, वैसे ही जिसका चित्त निर्विकल्प समाधि में लीन हो जाता है, उसकी चिर संचित शुभाशुभ कर्मों को भस्म करनेवाली, आत्मरूप अग्नि प्रकट होती है।

४८७ जिसके राग-द्वेष और मोह नहीं है तथा मन-वचन-कायरूप योगों का व्यापार नहीं रह गया है, उसमें समस्त शुभाशुभ कर्मों को जलानेवाली ध्यानाग्नि प्रकट होती है।

४८८ पूर्व या उत्तर दिशाभिमुख होकर बैठनेवाला शुद्ध आचार तथा पवित्र शरीरवाला ध्याता सुखासन से स्थित हो समाधि में लीन होता है।

४८९ वह ध्याता पल्यंकासन बांधकर और मन वचन-काय के व्यापार को रोककर दृष्टि को नासिकाग्र पर स्थिर करके मन्द-मन्द श्वासोच्छ्वास ले।

४९० वह अपने पूर्वकृत बुरे आचरण की गर्हा करे, सब प्राणियों से क्षमाभाव चाहे, प्रमाद को दूर करे और चित्त को निश्चल करके तब तक ध्यान करे जब तक पूर्वबद्ध कर्म नष्ट न हो जायें।

४९१ जिन्होंने अपने योग अर्थात् मन-वचन-काय को स्थिर कर लिया है और जिनका ध्यान में चित्त पूरी तरह निश्चल हो गया है, उन मुनियों के ध्यान के लिए घनी आबादी के ग्राम अथवा शून्य अरण्य में कोई अंतर नहीं रह जाता।

४९२ समाधि की भावनावाला तपस्वी श्रमण इन्द्रियों के अनुकूल विषयों (शब्द-रूपादि) में कभी रागभाव न करे और प्रतिकूल विषयों में मन से भी द्वेषभाव न करे।

४९३ सुविदियजगस्सभावो, निस्सगो निब्भओ निरासो य।
वेरग्गभावियमणो, झाणंमि सुनिच्चलो होइ ॥१०॥
सुविदितजगत्स्वभाव, निस्सग निभय निराशश्च।
वैराग्यभावितमना, ध्याने सुनिश्चला भवति ॥१०॥

४९४ पुरीसायारो अप्पा, जोई वरणाणदसणसमग्गो।
जो झायदि सो जोई, पावहरो हवदि णिद्दो ॥११॥
पुरुषाकार आत्मा, योगी वरज्ञानदर्शनसमग्र।
य ध्यायति स योगी, पापहर भवति निर्द्वन्द्व ॥११॥

४९५ देहविवित्त पेच्छइ, अप्पाण तह य सव्वसजोगे।
देहोवहिवोसग्ग निस्सगो सव्वहा कुणइ ॥१२॥
देहविविक्त प्रेक्षते आत्मान तथा च सर्वसयोगान।
देहोपधिव्युत्सर्ग, निस्सग सर्वथा करोति ॥१२॥

४९६ णाह होमि परेसि, ण मे परे सति णाणमहमेक्को।
इदि जो झायदि झाणे, सो अप्पाण हवदि झादा ॥१३॥
नाह भवामि परेषा, न मे परे सन्ति ज्ञानमहमेक।
इति यो ध्यायति ध्याने, स आत्मा भवति ध्याता ॥१३॥

४९७ झाणट्ठिओ हु जोई जइणो सवेय णिययअप्पाण।
तो ण लहइ त सुद्ध भग्गविहीणो जहा रयण ॥१४
ध्यानस्थितो खलु योगी यदि नो सवेत्ति निजात्मानम्।
तो न लभते त शुद्ध भाग्यविहीनो यथा रत्नम ॥१४॥

४९८ भावेज्ज अवत्थतिय, पिंडत्थ-पयत्थ-रूवरहियत्त।
छउमत्थ-केवलित्त, सिद्धत्त चेव तस्सत्थो ॥१५॥
भावयेत् अवस्थात्रिक पिण्डस्थ-पदस्थ-रूपरहितत्वम।
छद्मस्थ-केवलित्व सिद्धत्व चैव तस्यार्थ ॥१५॥

४९९ अवि झाइ से महावीरे, आसणत्थे अकुक्कुए झाण।
उड्ढमहे तिरिय च, पेहमाणे समाहिमपडिण्णे ॥१६॥
अपि ध्यायति स महावीर, आसनस्थ अकौत्कुच ध्यानम्।
ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च, प्रेक्षमाण समाधिम् अप्रतिज्ञ ॥१६॥

४९३ जो ससार के स्वरूप से सुपरिचित है, नि सग, निभय तथा आशारहित है तथा जिसका मन वरग्यभावना से युक्त है, वही ध्यान में सुनिश्चल—भलीभाति स्थित होता है ।

४९४ जो योगी पुरुष के आकारवाली तथा केवलज्ञान व केवलदशन से पूण आत्मा का ध्यान करता है, वह कमबन्धन को नष्ट करके निद्वद्व हो जाता है ।

४९५ ध्यान-योगी अपने आत्मा को शरीर तथा समस्त बाह्य सयोगो से विविक्त (भिन्न) देखता है अर्थात् देह तथा उपधि का सर्वथा त्याग करके नि सग हो जाता है ।

४९६ वही श्रमण आत्मा का ध्याता है जो ध्यान म चितवन करता है कि "मै न 'पर' का हू, न 'पर' (पदाथ या भाव) मरे है, म तो एक (शुद्ध-बुद्ध) ज्ञानमय (चैतन्य) हूँ ।"

४९७ ध्यान में स्थित योगी यदि अपनी आत्मा का सवेदन नही करता तो वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त नही कर सकता, जैसे कि भाग्यहीन व्यक्ति रत्न प्राप्त नही कर सकता ।

४९८ ध्यान करनेवाला साधक पिंडस्थ, पदस्थ और रूपातीत—इन तीनो अवस्थाओ की भावना करे । पिंडस्थध्यान का विषय है—छद्मस्थत्व—देह-विपश्यत्व । पदस्थध्यान का विषय है केवलित्व—केवली द्वारा प्रतिपादित अथ का अनुचितन और रूपातीतध्यान का विषय है सिद्धत्व—शुद्ध आत्मा ।

४९९ भगवान् अर्हन्त आदि आसना म स्थित और स्थिर होकर ध्यान करते थे । वे ऊँचे-नीचे और तिरछे लोक में होनेवाले पदार्थो को ध्येय बनाते थे । उनकी दृष्टि आत्म-समाधि पर टिकी हुई थी । वे सकल्प-मुक्त थे ।

५०० णातीतमट्ठं ण य आगमिस्सं, अट्ठं नियच्छंति तहागया उ ।
विधूतकप्पे एयाणुपस्सी, णिज्झोसइत्ता खवगे महेसी ॥१७॥
नातीतमर्थं न च आगमिष्यन्तम् अर्थं नियच्छन्ति तथागतास्तु ।
विधूतकल्प एतदनुदर्शी निर्जोषयिता क्षपकः महर्षिः ॥१७॥

५०१ मा चिट्ठह मा जंपह, मा चिंतह किं वि जेण होइ थिरो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ, इणमेव परं हवे झाणं ॥१८॥
मा चेष्टध्वम् मा जल्पत, मा चिन्तयत किमपि येन भवति स्थिरः ।
आत्मा आत्मनि रतः, इदमेव परं भवेद् ध्यानम् ॥१८॥

५०२ न कसायसमुत्थेहि य, वहिज्जइ माणसेहिं दुक्खेहिं ।
ईसा-विसाय-सोगा इएहिं, झाणोवगयचित्तो ॥१९॥
न कषायसमुत्थैश्च, बाध्यते मानसैर्दुःखैः ।
ईर्ष्या-विषाद-शोकादिभिः ध्यानोपगतचित्तः ॥१९॥

५०३ चालिज्जइ बीभेइ य, धीरो न परीसहोवसग्गेहिं ।
सुहुमेसु न सम्मुच्छइ, भावेसु न देवमायासु ॥२०॥
चाल्यते बिभेति च धीरः न परीषहोपसर्गैः ।
सूक्ष्मेषु न सम्मुह्यति, भावेषु न देवमायासु ॥२०॥

५०४ जह चिरसंचियमिंधण-मनलो पवणसहिओ दुयं दहइ ।
तह कम्मेंधणममियं, खणेण झाणानलो डहइ ॥२१॥
यथा चिरसंचितमिन्धन-मनलः पवनसहितः द्रुतं दहति ।
तथा कर्मेन्धनममितं, क्षणेन ध्यानानलः दहति ॥२१॥

३० अनुप्रेक्षासूत्र

५०५ झाणोवरमेऽवि मुणी, णिच्चमणिच्चाइभावणापरमो ।
होइ सुभावियचित्तो, धम्मज्झाणेण जो पुव्विं ॥१॥
ध्यानोपरमेऽपि मुनिः, नित्यमनित्यादिभावनापरमः ।
भवति सुभावितचित्तः, धर्मध्यानेन यः पूर्वम् ॥१॥

५०६ अद्धुवमसरणमेगत्त-मन्नत्तसंसारलोयमसुइत्तं ।
आसवसंवरणिज्जर, धम्मं बोधिं च चिंतिज्ज ॥२॥
अध्रुवमशरणमेकत्व-मन्यत्वसंसार-लोकमशुचित्वं ।
आस्रवसंवरनिर्जराः, धर्मं बोधिं च चिन्तयेत् ॥२॥

५०० तथागत अतीत और भविष्य के अर्थ को नही देखते। कल्पना मुक्त महर्षि वर्तमान का अनुपश्यी हो, (कर्म-शरीर) का शोषण कर उसे क्षीण कर डालता है।

५०१ हे ध्याता! तू न तो शरीर से कोई चेष्टा कर, न वाणी से कुछ बोल और न मन से कुछ चिन्तन कर, इस प्रकार योग का निरोध करने से तू स्थिर हो जायेगा—तेरी आत्मा आत्मरत हो जायेगी। यही परम ध्यान है।

५०२ जिसका चित्त इस प्रकार के ध्यान में लीन है, वह आत्मध्यानी पुरुष कषाय से उत्पन्न ईर्षा, विषाद, शोक आदि मानसिक दुःखों से बाधित (ग्रस्त या पीडित) नही होता।

५०३ वह धीर पुरुष न तो परीषह, न उपसर्ग आदि से विचलित और भयभीत होता है तथा न ही सूक्ष्म भावों व देवनिर्मित मायाजाल में मुग्ध होता है।

५०४ जैसे चिरसंचित ईंधन को वायु से उद्दीप्त आग तत्काल जला डालती है, वैसे ही ध्यानरूपी अग्नि अपरिमित कर्म ईंधन को क्षणभर में भस्म कर डालती है।

३० अनुप्रेक्षासूत्र

५०५ मोक्षार्थी मुनि सर्वप्रथम धर्म ध्यान द्वारा अपने चित्त को सुभावित करे। बाद में धर्म ध्यान से उपरत होने पर भी सदा अनित्य-अशरण आदि भावनाओं के चिन्तवन में लीन रहे।

५०६ अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधि—इन बारह भावनाओं का चिन्तवन करना चाहिए।

५०७ जम्म मरणेण समं, संपज्जइ जोव्वणं जरासहियं ।
लच्छी विणास-सहिया, इय सव्वं भंगुरं मुणह ॥३॥
जन्म मरणेन समं सम्पद्यते यौवनं जरासहितम् ।
लक्ष्मीः विनाशसहिता, इति सर्वं भङ्गुरं जानीत ॥३॥

५०८ चइऊण महामोहं, विसए मुणिऊण भंगुरे सव्वे ।
णिव्विसयं कुणह मणं, जेण सुहं उत्तमं लहह ॥४॥
त्यक्त्वा महामोहं, विषयान् ज्ञात्वा भङ्गुरान् सर्वान् ।
निर्विषयं कुरुत मनः, येन सुखमुत्तमं लभध्वम् ॥४॥

५०९ वित्तं पसवो य णाइओ, तं बाले सरणं ति मण्णइ ।
एए मम तेसिं वा अहं, णो ताणं सरणं ण विज्जई ॥५॥
वित्तं पशवश्च ज्ञातयः, तद् बालः शरणमिति मन्यते ।
एते मम तेष्वप्यहं, नो त्राणं शरणं न विद्यते ॥५॥

५१० संगं परिजाणामि, सल्लं पि य उद्धरामि तिविहेण ।
गुत्तीओ समिईओ, मज्झं ताणं च सरणं च ॥६॥
सङ्गं परिजानामि, शल्यमपि चोद्धरामि त्रिविधेन ।
गुप्तयः समितयः, मम त्राणं च शरणं च ॥६॥

५११ धी संसारो जहियं, जुवाणओ परमरूवगव्वियओ ।
मरिऊण जायइ, किमी तत्थेव कलेवरे नियए ॥७॥
धिक् संसारं यत्र, युवा परमरूपगर्वितकः ।
मृत्वा जायते, कृमिस्तत्रैव कलेवरे निजके ॥७॥

५१२ सो नत्थि इहोगासो, लोए वालग्गकोडिमित्तोऽवि ।
जम्मणमरणाबाहा, अणेगसो जत्थ न य पत्ता ॥८॥
स नास्तीहावकाशो, लोके वालाग्रकोटिमात्रोऽपि ।
जन्ममरणाबाधा, अनेकशो यत्र न च प्राप्ता ॥८॥

५१३ वाहिजरमरणमयरो, निरंतरुप्पत्तिनीरनिकुरुंबो ।
परिणामदारुणदुहो, अहो दुरंतो भवसमुद्दो ॥९॥
व्याधिजरामरणमकरो, निरन्तरोत्पत्ति-नीरनिकुरुम्बः ।
परिणामदारुणदुःखः, अहो ! दुरन्तो भवसमुद्रः ॥९॥

५०७ जन्म मरण के साथ जुडा हुआ है और यौवन वृद्धावस्था के साथ। लक्ष्मी चचला है। इस प्रकार (ससार मे) सब-कुछ क्षण भगुर है—अनित्य है।

५०८ महामोह को तजकर तथा सब इन्द्रिय-विषयो को क्षण-भगुर जानकर मन को निर्विषय बनाओ, ताकि उत्तम सुख प्राप्त हो।

५०९ अज्ञानी जीव धन, पशु तथा ज्ञातिवर्ग को अपना रक्षक या शरण मानता है कि ये मेरे ह और मै इनका हूँ। किन्तु वास्तव में ये सब न तो रक्षक है और न शरण।

५१० मै परिग्रह को समझ-बूझकर तजता हूँ और माया, मिथ्यात्व व निदान इन तीन शल्यो को भी मन-वचन-काय से दूर करता हूँ। तीन गुप्तिया और पाँच समितिया ही मेरे लिए रक्षक और शरण ह।

५११ इस ससार का धिक्कार है, जहाँ परम रूप-गर्वित युवक मृत्यु के बाद अपने उसी त्यक्त (मृत) शरीर म कृमि के रूप मे उत्पन्न हो जाता है।

५१२ इस ससार मे बाल की नोक जितना भी स्थान ऐसा नही है जहाँ इस जीव ने अनेक बार जन्म-मरण का कष्ट न भोगा हो।

५१३ अहो! यह भवसमुद्र दुरन्त है—इसका अन्त बडे कष्ट से होता है। इसमें व्याधि तथा जरा-मरणरूपी अनेक मगरमच्छ हैं, निरन्तर उत्पत्ति या जन्म ही जलराशि है। इसका परिणाम दारुण दुःख है।

५१४ रयणत्तय-संजुत्तो, जीवो वि हवेइ उत्तमं तित्थं ।
संसारं तरइ जदो, रयणत्तय दिव्व-णावाए ॥१०॥
रत्नत्रयसंयुक्त, जीव अपि भवति उत्तमं तीर्थम् ।
संसारं तरति यत, रत्नत्रयदिव्यनावा ॥१०॥

५१५ पत्तेयं पत्तेयं नियगं, कम्मफलमणुहवंताणं ।
को कस्स जए सयणो ? को कस्स व परजणो भणिओ ? ॥११॥
प्रत्येकं प्रत्येकं निजकं, कर्मफलमनुभवताम् ।
कः कस्य जगति स्वजन ? कः कस्य वा परजनो भणित ॥११॥

५१६ एगो मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजुओ ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ॥१२॥
एको मे शाश्वत आत्मा, ज्ञानदर्शनसंयुत ।
शेषा मे बाह्या भावा, सर्वे संयोगलक्षणा ॥१२॥

५१७ संजोगमूला जीवेण, पत्ता दुक्खपरंपरा ।
तम्हा संजोगसंबंधं, सव्वभावेण वोसिरे ॥१३॥
संयोगमूला जीवेन, प्राप्ता दुःखपरम्परा ।
तस्मात्संयोगसम्बन्धं, सर्वभावेन व्युत्सृजामि ॥१३॥

५१८ अणुसोअइ अन्नजणं, अन्नभवंतरगयं तु बालजणो ।
नवि सोयइ अप्पाणं, किलिस्समाणं भवसमुद्दे ॥१४॥
अनुशोचत्यन्यजन-मन्यभवान्तरगतं तु बालजनः ।
नैव शोचत्यात्मानं क्लिश्यमानं भवसमुद्रे ॥१४॥

५१९ अन्नं इमं सरीरं, अन्नोऽहं बंधवाविमे अन्ने ।
एवं नाऊण खमं, कुसलस्स न तं खमं काउं ? ॥१५॥
अन्यदिदं शरीरम्, अन्योऽहं बान्धवा अपीमेऽन्ये ।
एवं ज्ञात्वा क्षमं, कुशलस्य न तत् क्षमं कर्तुम् ॥१५॥

५२० जो जाणिऊण देहं, जीवसरूवादु तच्चदो भिन्नं ।
अप्पाणं पि य सेवदि, कज्जकरं तस्स अण्णत्तं ॥१६॥
यः ज्ञात्वा देहं, जीवस्वरूपात् तत्त्वतः भिन्नम् ।
आत्मानमपि च सेवते, कार्यकरं तस्य अन्यत्वम् ॥१६॥

५१४ (वास्तव में-) रत्नत्रय मे सम्पन्न जीव ही उत्तम तीथ (तट) है, क्योंकि वह रत्नत्रयरूपी दिव्य नौका द्वारा ससार-सागर स पार करता है।

५१५ यहाँ प्रत्येक जीव अपने-अपने कमफल को अकेला ही भागता है। ऐमी स्थिति म यहाँ कौन किमका स्वजन है और कौन किसका पर जन ?

५१६ ज्ञान और दशन से मयुक्त मेरी एक आत्मा ही शाश्वत है। शेप सब अर्थात देह तथा रागादि भाव तो मयोगलक्षणवाले ह—उनके माथ मेरा सयोगमम्बन्ध मात्र है। वे मुझमे अन्य ही ह।

५१७ इस मयाग के कारण ही जीव दु खा की परम्परा का प्राप्त हुआ है। अत सम्पूणभाव से मै इस सयाग-सम्बन्ध का त्याग करता हूँ।

५१८ अज्ञानी मनुष्य अन्य भवा म गये हुए दूसरे लोगा के लिए ता शाक करता है, किन्तु भव-सागर में कष्ट भोगनेवाली अपनी आत्मा की चिन्ता नहीं करता।

५१९ यह शरीर अन्य है, म अन्य हूँ, बन्धु-बान्धव भी मुझमे अन्य है। ऐसा जानकर कुशल व्यक्ति उनमें आसक्त न हो।

५२० जो शरीर का जीव के स्वरूप मे तत्त्वत भिन्न जानकर आत्मा का अनुचिन्तन करता है, उसकी अन्यत्व भावना कार्यकारी है।

५२८ सुइं च लद्धुं सद्धं च, वीरियं पुण दुल्लहं ।
बहवे रोयमाणा वि, नो एणं पडिवज्जए ॥२४॥
श्रुतिं च लब्ध्वा श्रद्धां च, वीर्यं पुनर्दुर्लभम् ।
बहवो रोचमाना अपि नो च तत् प्रतिपद्यन्ते ॥२४॥

५२९ भावणाजोगसुद्धप्पा, जले णावा व आहिया ।
नावा व तीरसपण्णा, सव्वदुक्खा तिउट्टइ ॥२५॥
भावनायोगशुद्धात्मा, जले नौरिव आख्यातः ।
नौरिव तीरसम्पन्ना, सर्वदुःखात् त्रुट्यति ॥२५॥

५३० बारस अणुवेक्खाओ, पच्चक्खाणं तहेव पडिक्कमणं ।
आलोयणं समाही, तम्हा भावेज्ज अणुवेक्खं ॥२६॥
द्वादशानुप्रेक्षाः, प्रत्याख्यानं तथैव प्रतिक्रमणम् ।
आलोचनं समाधिः, तस्मात् भावयेत् अनुप्रेक्षाम् ॥२६॥

३१ लेश्यासूत्र

५३१ होंति कमविसुद्धाओ, लेसाओ पीयपम्हसुक्काओ ।
धम्मज्झाणोवगयस्स, तिव्व-मंदाइभेयाओ ॥१॥
भवन्ति क्रमविशुद्धाः, लेश्याः पीतपद्मशुक्लाः ।
धर्मध्यानोपगतस्य, तीव्रमन्दादि-भेदाः ॥१॥

५३२ जोगपउत्ती लेस्सा, कसायउदयाणुरंजिया होई ।
तत्तो दोण्हं कज्जं, बंधचउक्कं समुद्दिट्ठं ॥२॥
योगप्रवृत्तिर्लेश्या, कषायोदयानुरञ्जिता भवति ।
ततः द्वयोः कार्यं, बन्धचतुष्कं समुद्दिष्टम् ॥२॥

५३३ किण्हा णीला काऊ, तेऊ पम्मा य सुक्कलेस्सा य ।
लेस्साणं णिद्देसा, छच्चेव हवंति णियमेण ॥३॥
कृष्णा नीला कापोता, तेजः पद्मा च शुक्ललेश्या च ।
लेश्यानां निर्देशात्, षट् चैव भवन्ति नियमेन ॥३॥

५२८ धर्म-श्रवण तथा (उसके प्रति) श्रद्धा हो जाने पर भी संयम में पुरुषार्थ होना अत्यन्त दुर्लभ है। बहुत-से लोग संयम में अभिरुचि रखते हुए भी उसे सम्यक्रूपेण स्वीकार नहीं कर पाते।

५२९ भावना-योग से शुद्ध आत्मा को जल में नौका के समान कहा गया है। जैसे अनुकूल पवन का सहारा पाकर नौका किनारे पर पहुँच जाती है, वैसे ही शुद्ध आत्मा संसार के पार पहुँचती है, जहां उसके समस्त दुःखों का अंत हो जाता है।

५३० अतः बारह अनुप्रेक्षाओं का तथा प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोचना एवं समाधि का बारम्बार चिन्तवन करते रहना चाहिए।

३१ लेश्यासूत्र

५३१ धर्मध्यान से युक्त मुनि के क्रमशः विशुद्ध पीत, पद्म और शुक्ल ये तीन शुभ लेश्याएँ होती हैं। इन लेश्याओं के तीव्र मन्द के रूप में अनेक प्रकार हैं।

५३२ कषाय के उदय से अनुरंजित मन-वचन-काय की योग-प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। इन दोनों अर्थात् कषाय और योग का कार्य है चार प्रकार का कर्म-बन्ध। कषाय से कर्मों के स्थिति और अनुभाग बन्ध होते हैं, योग से प्रकृति और प्रदेश-बन्ध।

५३३ लेश्याएँ छह प्रकार की हैं—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोत लेश्या, तेजोलेश्या (पीतलेश्या,) पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या।

५३४ किण्हा नीला काऊ, तिण्णि वि एयाओ अहम्मलेसाओ ।
एयाहि तिहि वि जीवो, दुग्गइ उववज्जई बहुसो ॥४॥
कृष्णा नीला कापोता, तिस्रोऽप्येता अधर्मलेश्या ।
एताभिस्तिसृभिरपि जीवो, दुर्गतिमुपपद्यते बहुश ॥४॥

५३५ तेऊ पम्हा सुक्का, तिण्णि वि एयाओ धम्मलेसाओ ।
एयाहि तिहि वि जीवो, सुग्गइ उववज्जई बहुसो ॥५॥
तेज पद्मा शुक्ला, तिस्रोऽप्येता धर्मलेश्या ।
एताभिस्तिसृभिरपि जीव, सुगतिमुपपद्यते बहुश ॥५॥

५३६ तिव्वतमा तिव्वतरा, तिव्वा असुहा सुहा तहा मदा ।
मदतरा मदतमा, छट्ठाणगया हु पत्तेय ॥६॥
तीव्रतमास्तीव्रतरा-स्तीव्रा अशुभा शुभास्तथा मन्दा ।
मन्दतरा, मन्दतमा, षट्स्थानगता हि प्रत्येकम् ॥६॥

५३७–५३८ पहिया जे छ प्पुरिसा, परिभट्ठारण्णमज्झदेसम्हि ।
फलभरियरुक्खमेग, पेक्खित्ता ते विचिंतति ॥७॥
णिम्मूलखधसाहु–वसाह छित्तु चिणित्तु पडिवाइ ।
खाउ फलाइ इदि, ज मणेण वयण हवे कम्म ॥८॥
पथिका ये षट् पुरुषा, परिभ्रष्टा अरण्यमध्यदेशे ।
फलभरितवृक्षमेक, प्रेक्ष्य ते विचिन्तयन्ति ॥७॥
निर्मूलस्कन्धशाखोपशाख छित्वा चित्वा पतितानि ।
खादितु फलानि इति, यन्मनसा वचन भवेत् कर्म ॥८॥

५३४ कृष्ण, नील और कापोत ये तीनो अधम या अशुभ लेश्याएँ है। इनके कारण जीव विविध दुर्गतियों में उत्पन्न होता है।

५३५ पीत (तेज), पद्म और शुक्ल ये तीनो धर्म या शुभ लेश्याएँ है। इनके कारण जीव विविध सुगतियो मे उत्पन्न होता है।

५३६ कृष्ण, नील और कापोत इन तीन अशुभ लेश्याओ मे से प्रत्येक के तीव्रतम, तीव्रतर और तीव्र ये तीन भेद होते है। शेष तीन शुभ लेश्याओ में से प्रत्येक के मन्द, मन्दतर और मन्दतम ये तीन भेद होते है। तीव्र और मन्द की अपेक्षा से प्रत्येक में अनन्त भाग वृद्धि, असख्यात भाग-वृद्धि, सख्यात भाग वृद्धि, सख्यात गुण-वृद्धि, असख्यात गुण-वृद्धि, अनन्त गुण-वृद्धि ये छह वृद्धियाँ और इन्ही नाम की छह हानियाँ सदैव होती रहती हैं। इसी कारण लेश्याओ के भेदो में भी उतार-चढाव होता रहता है।

५३७ ५३८ छह पथिक थे। जगल के बीच जाने पर वे भटक गये। भूख सताने लगी। कुछ देर बाद उन्हे फलो से लदा एक वृक्ष दिखाई दिया। उनकी फल खाने की इच्छा हुई। वे मन ही मन विचार करने लगे। एक ने सोचा कि पेड को जड मूल से काटकर इसके फल खाये जायँ। दूसरे ने सोचा कि केवल स्कन्ध ही काटा जाय। तीसरे ने विचार किया कि शाखा ही तोडना ठीक रहेगा। चौथा सोचने लगा कि उपशाखा (छोटी डाल) ही तोड ली जाय। पाचवाँ चाहता था कि फल ही तोडे जायँ। छठे ने सोचा कि वृक्ष से टपककर नीचे गिरे हुए पके फल ही चुनकर क्यो न खाये जायें। इन छहो पथिको के विचार, वाणी तथा कर्म क्रमश छहो लेश्याओ के उदाहरण है।

५३९ चण्डो ण मुचइ वेरं, भंडणसीलो य धम्मदयरहिओ ।
दुट्ठो ण य एदि वसं, लक्खणमेयं तु किण्हस्स ॥९॥
चण्डो न मुञ्चति वैरं, भण्डनशीलश्च धर्मदयारहितः ।
दुष्टो न चैति वशं, लक्षणमेतत्तु कृष्णस्य ॥९॥

५४० मंदो बुद्धिविहीणो, णिव्विणाणी य विसयलोलो य ।
लक्खणमेयं भणियं, समासदो णीललेस्सस्स ॥१०॥
मन्दो बुद्धिविहीनो, निर्विज्ञानी च विषयलोलश्च ।
लक्षणमेतद् भणितं, समासतो नीललेश्यस्य ॥१०॥

५४१ रूसइ णिंदइ अन्ने, दूसइ बहुसो य सोयभयबहुलो ।
ण गणइ कज्जाकज्जं, लक्खणमेयं तु काउस्स ॥११॥
रुष्यति निन्दति अन्यान् दूषयति बहुशश्च शोकभयबहुलः ।
न गणयति कार्याकार्यं, लक्षणमेतत् तु कापोतस्य ॥११॥

५४२ जाणइ कज्जाकज्जं, सेयमसेयं च सव्वसमपासी ।
दयदाणरदो य मिदू, लक्खणमेयं तु तेउस्स ॥१२॥
जानाति कार्याकार्यं, श्रेयः अश्रेयं च सर्वसमदर्शी ।
दयादानरतश्च मृदुः लक्षणमेतत् तु तेजसः ॥१२॥

५४३ चागी भद्दो चोक्खो, अज्जवकम्मो य खमदि बहुगं पि ।
साहुगुरुपूजणरदो, लक्खणमेयं तु पम्मस्स ॥१३॥
त्यागी भद्रः चोक्षः, आर्जवकर्मा च क्षमते बहुकमपि ।
साधुगुरुपूजनरतो लक्षणमेतत् तु पद्मस्य ॥१३॥

५४४ ण य कुणइ पक्खवायं, ण वि य णिदाणं समो य सव्वेसिं ।
णत्थि य रायद्दोसा, णेहो वि य सुक्कलेस्सस्स ॥१४॥
न च करोति पक्षपातं, नापि च निदानं समश्च सर्वेषाम् ।
न स्तः च रागद्वेषौ, स्नेहोऽपि च शुक्ललेश्यस्य ॥१४॥

५४५ लेस्सासोधी अज्झवसाणविसोधीए होइ जीवस्स ।
अज्झवसाणविसोधि, मंदकसायस्स णायव्वा ॥१५॥
लेश्याशुद्धिः अध्यवसानविशुद्धया भवति जीवस्य ।
अध्यवसानविशुद्धिः, मन्दकषायस्य ज्ञातव्या ॥१५॥

५३९ स्वभाव की प्रचण्डता वैर की मजबूत गाठ, झगडालू वृत्ति, धर्म और दया से शून्यता, दुष्टता, समझान से भी नहीं मानना, ये कृष्णलेश्या के लक्षण ह ।

५४० मन्दता, बुद्धिहीनता, अज्ञान और विपयलोलुपता—ये सक्षेप में नीललेश्या के लक्षण ह ।

५४१ जल्दी रुष्ट हो जाना, दूसरो की निन्दा करना, दोष लगाना, अति शोकाकुल होना, अत्यन्त भयभीत होना—ये कापोतलेश्या के लक्षण ह ।

५४२ कार्य-अकार्य का ज्ञान, श्रेय-अश्रेय्य का विवेक, सबके प्रति समभाव, दया-दान मे प्रवृत्ति—ये पीत या तेजोलेश्या के लक्षण ह ।

५४३ त्यागशीलता, परिणामो में भद्रता, व्यवहार म प्रामाणिकता, कार्य में ऋजुता, अपराधियो के प्रति क्षमाशीलता, साधु-गुरुजनो की पूजा-सेवा म तत्परता—य पद्मलेश्या के लक्षण ह ।

५४४ पक्षपात न करना, भोगो की आकाक्षा न करना, सबम समदर्शी रहना, राग, द्वेष तथा प्रणय से दूर रहना—शुक्ललेश्या के लक्षण ह ।

५४५ आत्मपरिणामो में विशुद्धि आने से लेश्या की विशुद्धि होती है और कपायो की मन्दता से परिणाम विशुद्ध होते ह ।

५५३ जो तसवहाउविरदो, णो विरओ एत्थ-थावरवहाओ।
पडिसमय सो जीवो, विरयाविरओ जिणेक्कमई ॥८॥
यस्त्रसवधाद्विरत, ना विरत अत्र स्थावरवधात।
प्रतिसमय स जीवो, विरताविरतो जिनैकमति ॥८॥

५५४ वत्तावत्तपमाए, जो वसइ पमत्तसजओ होइ।
सयलगुणसीलकलिओ, महव्वई चित्तलायरणो ॥९॥
व्यक्ताव्यक्तप्रमादे, यो वसति प्रमत्तसयतो भवति।
सकलगुणशीलकलितो, महाव्रती चित्रलाचरण ॥९॥

५५५ णट्ठासेसपमाओ, वयगुणसीलोलिमडिओ णाणी।
अणुवसमओ अखवओ, झाणणिलीणो हु अप्पमत्तो सो ॥१०॥
नष्टाशेषप्रमादो, व्रतगुणशीलावलिमण्डितो ज्ञानी।
अनुपशमक अक्षपको, ध्याननिलीनो हि अप्रमत्त स ॥१०॥

५५६ एयम्मि गुणट्ठाणे, विसरिससमयट्ठिएहिं जीवेहिं।
पुव्वमपत्ता जम्हा, होंति अपुव्वा हु परिणामा ॥११॥
एतस्मिन् गुणस्थाने, विसदृशसमयस्थितैर्जीवै।
पूर्वमप्राप्ता यस्मात्, भवन्ति अपूर्वा हि परिणामा ॥११॥

५५७ तारिसपरिणामट्ठियजीवा, हु जिणेहिं गलियतिमिरेहिं।
मोहस्सऽपुव्वकरणा, खवणुवसमणुज्जया भणिया ॥१२॥
तादृशपरिणामस्थितजीवा, हि जिनैर्गलिततिमिरै।
मोहस्यापूर्वकरणा, क्षपणोपशमनोद्यता भणिता ॥१२॥

५५३ जो त्रस जीवों की हिंसा से तो विरत हो गया है, परन्तु एकेन्द्रिय स्थावर जीवों (वनस्पति, जल, भूमि, अग्नि, वायु) की हिंसा से विरत नहीं हुआ है तथा एकमात्र जिन भगवान् में ही श्रद्धा रखता है, वह श्रावक देशविरत गुणस्थानवर्ती कहलाता है।

५५४ जिसने महाव्रत धारण कर लिये हैं, सकल शील-गुण से समन्वित हो गया है, फिर भी अभी जिसमें व्यक्त-अव्यक्तरूप में प्रमाद शेष है, वह प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती कहलाता है। इसका व्रताचरण किंचित सदोष होता है।

५५५ जिसका व्यक्त-अव्यक्त सम्पूर्ण प्रमाद निःशेष हो गया है, जो ज्ञानी होने के साथ-साथ व्रत गुण और शील की माला से सुशोभित है, फिर भी जो न तो मोहनीय कर्म का उपशम करता है और न क्षय करता है—केवल आत्मध्यान में लीन रहता है, वह श्रमण अप्रमत्तसंयत गुण-स्थानवर्ती कहलाता है। [विशेष ज्ञातव्य : अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से आगे दो श्रेणियाँ प्रारम्भ होती हैं—उपशम और क्षपक। उपशम श्रेणीवाला तपस्वी मोहनीय कर्म का उपशम करते हुए ग्यारहवें गुणस्थान तक चढ़ने पर पुनः मोहनीय कर्म का उदय होने से नीचे गिर जाता है और दूसरा क्षपक श्रेणीवाला मोहनीय कर्म का समूल क्षय करते हुए आगे बढ़ता जाता है और मोक्ष प्राप्त करता है।]

५५६ इस आठवें गुणस्थान में विसदृश (विभिन्न) समयों में स्थित जीव ऐसे-ऐसे अपूर्व परिणामों (भावों) को धारण करते हैं, जो पहले कभी भी नहीं हो पाये थे। इसीलिए इसका नाम अपूर्वकरण गुणस्थान है।

५५७ अज्ञानान्धकार को दूर करनेवाले (ज्ञानसूर्य) जिनेन्द्रदेव ने उन अपूर्व परिणामी जीवों को मोहनीय कर्म का क्षय या उपशम करने में तत्पर कहा है। (मोहनीय कर्म का क्षय या उपशम तो नौवें और दसवें गुण-स्थानों में होता है, किन्तु उसकी तैयारी इस अष्टम गुणस्थान में ही शुरू हो जाती है।)

५५८ होंति अणियट्टिणो ते, पडिसमय जेसिमेक्कपरिणामा ।
विमलयरझाणहुयवह सिहाहिं णिद्दड्ढकम्मवणा ॥१३॥
भवन्ति अनिवर्तिनस्ते, प्रतिसमय येषामेकपरिणामा ।
विमलतरध्यानहुतवह-शिखाभिर्निदग्धकर्मवना ॥१३॥

५५९ कोसुंभो जिह राओ, अब्भतरदो य सुहुमरत्तो य ।
एव सुहुमसराओ, सुहुमकसाओ त्ति णायव्वो ॥१४॥
कौसुम्भ यथा राग, अभ्यन्तरत च सूक्ष्मरक्त च ।
एव सूक्ष्मसराग, सूक्ष्मकषाय इति ज्ञातव्य ॥१४॥

५६० सकदकफलजल वा, सरए सरवाणिय व णिम्मलय ।
सयलोवसतमोहो, उवसतकसायओ होदि ॥१५॥
कतकफलयुतजल वा, शरदि सर पानीयम् इव निर्मलकम् ।
सकलोपशान्तमोह, उपशान्तकषायतो भवति ॥१५॥

५६१ णिस्सेसखीणमोहो, फलिहामलभायणुदय-समचित्तो ।
खीणकसाओ भण्णइ, णिग्गथो वीयराएहिं ॥१६॥
निःशेषक्षीणमोह, स्फटिकामल भाजनोदक-समचित्त ।
क्षीणकषायो भण्यते, निर्ग्रन्थो वीतराग ॥१६॥

५६२-५६३ केवलणाणदिवायर किरणकलाव-प्पणासिअण्णाणो ।
णवकेवललद्धुग्गम - पावियपरमप्पववएसो ॥१७॥
असहायणाणदसण-सहिओ वि हु केवली हु जोएण ।
जुत्तो त्ति सजोइजिणो, अणाइणिहणारिसे वुत्तो ॥१८॥
केवलज्ञानदिवाकर किरणकलाप प्रणाशिताज्ञान ।
नवकेवललब्ध्युद्गम प्रापितपरमात्मव्यपदेश ॥१७॥
असहायज्ञानदर्शन-सहितोऽपि हि केवली हि योगेन ।
युक्त इति सयोगिजिन, अनादिनिधन आर्षे उक्त ॥१८॥

५६४ सेलेसिं सपत्तो, णिरुद्धणिस्सेस आसओ जीवो ।
कम्मरयविप्पमुक्को, गयजोगो केवली होइ ॥१९॥
शैलेशीं सप्राप्त, निरुद्धनिःशेषास्रवो जीव ।
कर्मरजविप्रमुक्तो, गतयोग केवली भवति ॥१९॥

५५८ वे जीव अनिवृत्तिकरण गुणस्थान वाले होते ह, जिनके प्रतिसमय (निरन्तर) एक ही परिणाम होता है। (इनके भाव अष्टम गुणस्थान वालों की तरह विसदृश नहीं होते।) ये जीव निमलतर ध्यानरूपी अग्नि-शिखाओ से कर्म-वन को भस्म कर देते ह।

५५९ कुसुम्भ के हल्के रग की तरह जिनके अतरग में केवल सूक्ष्म राग शेप रह गया है, उन मुनियो को सूक्ष्म-सराग या सूक्ष्म-कपाय जानना चाहिए।

५६० जैसे निमली-फल से युक्त जल अथवा शरदकालीन सरोवर का जल (मिट्टी के बैठ जाने से) निमल होता है, वैसे ही जिनका सम्पूर्ण मोह उपशान्त हो गया है, वे निमल परिणामी उपशात-कपाय कहलाते ह। (फिर भी जैसे जल के हिल जाने से बैठी हुई मिट्टी ऊपर आ जाती है, वैसे ही मोह के उदय स यह उपशान्तकपाय श्रमण स्थानच्युत होकर सूक्ष्म-सराग दशा में पहुँच जाता है।)

५६१ सम्पूण मोह पूरी तरह नष्ट हो जाने से जिनका चित्त स्फटिकमणि के पात्र में रखे हुए स्वच्छ जल की तरह निर्मल हो जाता है, उन्ह वीतरागदेव ने क्षीण-कपाय निग्रन्थ कहा है।

५६२-५६३ केवलज्ञानरूपी दिवाकर की किरणो के समूह से जिनका अज्ञान अधकार सवथा नष्ट हो जाता है तथा नौ केवललब्धिया (सम्यक्त्व, अनतज्ञान, अनतदशन, अनतसुख, अनतवीय, दान, लाभ, भोग व उपभोग) के प्रकट होने से जिन्हें परमात्मा की सज्ञा प्राप्त हो जाती है, वे इन्द्रियादि की सहायता की अपेक्षा न रखनेवाले ज्ञान-दशन से युक्त होने के कारण केवली और काय योग से युक्त होने के कारण सयोगी केवली (तथा घातिकर्मों के विजेता होने के कारण) जिन कहलाते ह। ऐसा अनादिनिधन जिनागम में कहा गया है।

५६४ जो शील के स्वामी है, जिनके सभी नवीन कर्मों का आस्रव अवरुद्ध हो गया है, तथा जो पूर्वसचित कर्मों से (बध से) सवथा मुक्त हो चुके ह, वे अयोगीकेवली कहलाते है।

५६५ सो तम्मि चेव समये, लोयग्गे उड्ढगमणसब्भाओ ।
सचिट्ठइ असरीरो, पवरट्ठ गुणप्पओ णिच्च ॥२०॥
सो तस्मिन् चैव समये, लोकाग्रे ऊर्ध्वगमनस्वभाव ।
सचेष्टते अशरीर, प्रवराष्टगुणात्मको नित्यम् ॥२०॥

५६६ अट्ठविहकम्मवियडा, सीदीभूदा णिरजणा णिच्चा ।
अट्ठगुणा कयकिच्चा, लोयग्गणिवासिणो सिद्धा ॥२१॥
अष्टविधकमविकला, शीतीभूता निरञ्जना नित्या ।
अष्टगुणा कृतकृत्या, लोकाग्रनिवासिन सिद्धा ॥२१॥

३३ सलेखनासूत्र

५६७ सरीरमाहु नाव त्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ ।
ससारो अण्णवो वुत्तो, ज तरति महेसिणो ॥१॥
शरीरमाहुर्नौ रिति, जीव उच्यते नाविक ।
ससारोऽर्णव उक्त, य तरन्ति महर्षय ॥१॥

५६८ बहिया उड्ढमादाय, नावकखे कयाइ वि ।
पुव्वकम्मक्खयट्ठाए, इम देह समुद्धरे ॥२॥
बाह्यमूर्ध्वमादाय, नावकाङ्क्षेत् कदाचिद् अपि ।
पूर्वकर्मक्षयार्थाय, इम देह समुद्धरेत् ॥२॥

५६९ धीरेण वि मरियव्व, काउरिसेण वि अवस्समरियव्व ।
तम्हा अवस्समरणे, वर खु धीरत्तणे मरिउ ॥३॥
धीरेणापि मर्त्तव्य, कापुरुषेणाप्यवश्यमर्तव्यम् ।
तस्मात् अवश्यमरणे, वर खलु धीरत्वे मर्त्तुम् ॥३॥

५७० इक्क पडियमरण, छिदइ जाईसयाणि बहुयाणि ।
त मरण मरियव्व, जेण मओ सुम्मओ होइ ॥४॥
एक पण्डितमरण, छिनत्ति जातिशतानि बहुकानि ।
तद् मरण मर्त्तव्य, येन मृत सुमृत भवति ॥४॥

५६५ इस (चौदहवे) गुणस्थान को प्राप्त कर लेने के उपरान्त उसी समय ऊर्ध्वगमन स्वभाववाला वह अयोगीकेवली अशरीरी तथा उत्कृष्ट आठगुण सहित होकर सदा के लिए लोक के अग्रभाग पर चला जाता है। (उसे सिद्ध कहते हैं।)

५६६ सिद्ध जीव अष्टकर्मों से रहित, सुखमय, निरजन, नित्य, अष्ट-गुण-सहित तथा कृतकृत्य होते है और सदैव लोक के अग्रभाग मे निवास करते है।

३३ सलेखनासूत्र

५६७ शरीर को नाव कहा गया है और जीव को नाविक। यह ससार समुद्र है, जिसे महर्षिजन तैर जाते हैं।

५६८ ऊर्ध्व अर्थात मुक्ति का लक्ष्य रखनेवाला साधक कभी भी बाह्य विषयों की आकाक्षा न रखे। पूर्वकर्मों का क्षय करने के लिए ही इस शरीर को धारण करे।

५६९ निश्चय ही धैर्यवान् को भी मरना है और कापुरुष को भी मरना है। जब मरण अवश्यम्भावी है, तो फिर धीरतापूर्वक मरना ही उत्तम है।

५७० एक पण्डितमरण (ज्ञानपूर्वक मरण) सैकडो जन्मो का नाश कर देता है। अत इस तरह मरना चाहिए, जिससे मरण सुमरण हो जाय।

५७१ इक्क पडियमरण, पडिवज्जइ सुपुरिसो असभतो ।
खिप्प सो मरणाण, काहिइ अत अणताण ॥५॥
एक पण्डितमरण, प्रतिपद्यते सुपुरुप असम्भ्रान्त ।
क्षिप्र स मरणाना, करिष्यति अन्तम् अनन्तानाम् ॥५॥

५७२ चरे पयाइ परिसकमाणो, ज किंचि पास इह मन्नमाणो ।
लाभतरे जीविय वूहइत्ता, पच्छा परिण्णाय मलावधसी ॥६॥
चरेत्पदानि परिशङ्कमान , यत्किचित्पाशमिह मन्यमान ।
लाभान्तरे जीवित बृहयित्वा, पश्चात्परिज्ञाय मलावध्वसी ॥६॥

५७३ तस्स ण कप्पदि भत्त-पइण्ण अणुवट्ठिदे भये पुरदो ।
सो मरण पत्थितो, होदि हु सामण्णणिव्विण्णो ॥७॥
तस्य न कल्पते भक्त प्रतिज्ञा अनुपस्थिते भय पुरत ।
सो मरण प्रेक्षमाण , भवति हि श्रामण्यनिर्विण्ण ॥७॥

५७४ सलेहणा य दुविहा, अब्भितरिया य बाहिरा चेव ।
अब्भितरिया कसाए, बाहिरिया होइ य सरीरे ॥८॥
सलेखना च द्विविधा, अभ्यन्तरिका च बाह्या चैव ।
अभ्यतरिका कपाये, बाह्या भवति च शरीरे ॥८॥

५७५ कसाए पयणूए किच्चा, अप्पाहारे तितिक्खए ।
अह भिक्खू गिलाएज्जा, आहारस्सेव अन्तिय ॥९॥
कपायान प्रतनून् कृत्वा, अल्पाहार तितिक्षते ।
अथ भिक्षुर्ग्लायेत्, आहारस्येव अन्तिकम् ॥९॥

५७६ न वि कारण तणमओ सथारो, न वि य फासुया भूमी ।
अप्पा खलु सथारो, होइ विसुद्धो मणो जस्स ॥१०॥
नापि कारण तृणमय सस्तार, नापि च प्रासुका भूमि ।
आत्मा खलु सस्तारो भवति, विशुद्ध मनो यस्य ॥१०॥

५७७-५७८ न वि त सत्य च विस च, दुप्पउत्तु व्व कुणइ वेयालो ।
जत य दुप्पउत्त, सप्पु व्व पमाइणो कुद्धो ॥११॥
ज कुणइ भावसल्ल, अणुद्धिय उत्तमट्ठकालम्मि ।
दुल्लहबोहीयत्त, अणतससारियत्त च ॥१२॥

५७१ असम्भ्रान्त (निर्भय) सत्पुरुष एक पण्डितमरण को प्राप्त होता है और शीघ्र ही अनन्त-मरण का—बार-बार के मरण का अन्त कर देता है।

५७२ साधक पग-पग पर दोषों की आशका (सम्भावना) को ध्यान मे रखकर चले। छोटे से छोटे दोष को भी पाश समझे, उससे सावधान रहे। नये-नये लाभ के लिए जीवन को सुरक्षित रखे। जब जीवन तथा देह से लाभ होता हुआ दिखाई न दे तो परिज्ञानपूर्वक शरीर का त्याग कर दे।

५७३ (किन्तु) जिसके सामने (—अपने सयम, तप आदि साधना का) कोई भय या किसी भी तरह की क्षति की आशका नही है, उसके लिए भोजन का परित्याग करना उचित नही है। यदि वह (फिर भी भोजन का त्याग कर) मरना ही चाहता है तो कहना होगा कि वह मुनित्व से ही विरक्त हो गया है।

५७४ सलेखना दो प्रकार की है—आभ्यन्तर और बाह्य। कषायो को कृश करना आभ्यन्तर सलेखना है और शरीर को कृश करना बाह्य सलेखना है।

५७५ (सलेखना धारण करनेवाला साधु) कषायो को कृश करके धीरे-धीरे आहार की मात्रा घटाये। यदि वह रोगी है—शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया है तो आहार का सर्वथा त्याग कर दे।

५७६ जिसका मन विशुद्ध है, उसका सस्तारक* न तो तृणमय है और न प्रासुक भूमि है। उसकी आत्मा ही उसका सस्तारक है।

५७७-५७८ दुष्प्रयुक्त शस्त्र, विष, भूत तथा दुष्प्रयुक्त यन्त्र तथा क्रुद्ध सर्प

* सलेखना धारी के लिए प्रासुक भूमि मे तृणो का सस्तारक लगाया जाता है जिस पर वह विश्राम करता है। इसीको लक्ष्य करके यह भाव-कथन किया गया है।

५७७-५७८ तत् शस्त्र च विष च, दुष्प्रयुक्ता वा करोति वैताल ।
यत्र वा दुष्प्रयुक्त सर्वो वा प्रमादिन क्रुद्ध ॥११॥
यत् करोति भावशल्य-मनुद्धृतमुत्तमाथकाले ।
दुलभबोधिकत्वम्, अनन्तसमारिकत्व च ॥१२॥

५७९ तो उद्धरंति गारवरहिया, मूल पुणब्भवलयाण ।
मिच्छादसणसल्ल, मायासल्ल नियाण च ॥१३॥
तदुद्धरन्ति गौरवरहिता, मूल पुनर्भवलतानाम् ।
मिथ्यादर्शनशल्य, मायाशल्य निदान च ॥१३॥

५८० मिच्छद्दसणरत्ता, सनियाणा कण्हलेसभोगाढा ।
इय जे मरंति जीवा, तेसिं दुलहा भवे बोही ॥१४॥
मिथ्यादर्शनरक्ता, सनिदाना कृष्णलेश्यामवगाढा ।
इति ये म्रियन्ते जीवा-स्तेषा दुलभा भवेद् बोधि ॥१४॥

५८१ सम्मद्दसणरत्ता, अनियाणा सुक्कलेसमोगाढा ।
इय जे मरंति जीवा, तेसिं सुलहा भवे बोही ॥१५॥
सम्यग्दर्शनरक्ता अनिदाना शुक्ललेश्यामवगाढा ।
इति ये म्रियन्ते जीवा-स्तेषा सुलभा भवेद् बोधि ॥१५॥

५८२ आराहणाए कज्जे, परियम्म सव्वदा वि कायव्व ।
परियम्मभाविदस्स हु, सुहसज्झाऽऽराहणा होइ ॥१६॥
आराधनाया कार्ये, परिकर्म सर्वदा अपि कर्तव्यम ।
परिकर्मभावितस्य खलु, सुखसाध्या आराधना भवति ॥१६॥

५८३ ५८४ जह रायकुलपसूओ, जोग्ग णिच्चमवि कुणइ परिकम्म ।
तो जिदकरणो जुद्धे, कम्मसमत्थो भविस्सदि हि ॥१७॥
इय सामण्ण साधूवि, कुणदि णिच्चमवि जोगपरियम्म ।
तो जिदकरणो मरणे, ज्झाणसमत्थो भविस्सति ॥१८॥
यथा राजकुलप्रसूतो, योग्य नित्यमपि करोति परिकर्म ।
तत जितकरणो युद्धे, कर्मसमर्थो भविष्यति हि ॥१७॥
एव श्रामण्य साधुरपि, करोति नित्यमपि योगपरिकर्म ।
तत जितकरण मरणे, ध्यानसमर्थो भविष्यति ॥१८॥

आदि प्रमादी का उतना अनिष्ट नही करते, जितना अनिष्ट समाधिकाल में मन मे रहे हुए माया, मिथ्यात्व व निदान शल्य करते हैं । इससे बोधि की प्राप्ति दुलभ हो जाती है तथा ससार का अ त नही होता ।

५७९ अत अभिमान रहित साधक पुनजन्मरूपी लता के मूल अर्थात् मिथ्यादशनशल्य, मायाशल्य व निदानशल्य को अन्तरग से निकाल फेंकते हैं ।

५८० इस ससार में जो जीव मिथ्यादशन में अनुरक्त होकर निदान-पूवक तथा कृष्णलेश्या की प्रगाढतासहित मरण को प्राप्त होते हैं, उनके लिए बोधि-लाभ दुर्लभ है ।

५८१ जो जीव सम्यग्दशन के अनुरागी होकर, निदान रहित तथा शुक्ललेश्यापूवक मरण को प्राप्त होते हैं, उनके लिए बोधि की प्राप्ति सुलभ होती है ।

५८२ (इसलिए) मरण-काल में रत्नत्रय की सिद्धि या सम्प्राप्ति के अभिलाषी साधक को चाहिए कि वह पहले से ही निरन्तर परि-कम अर्थात् सम्यक्त्वादि का अनुष्ठान करता रहे, क्योंकि परिकम या अभ्यास करते रहनेवाले की आराधना सुखपूर्वक होती है।

५८३-५८४ राजकुल में उत्पन्न राजपुत्र नित्य समुचित शस्त्राभ्यास करता रहता है तो उसमें दक्षता आ जाती है और वह युद्ध में विजय प्राप्त करने में समर्थ होता है । इसी प्रकार जो समभावी साधु नित्य ध्यानाभ्यास करता है, उसका चित्त वश में हो जाता है और मरणकाल में ध्यान करने में समथ हो जाता है ।

५८५ मोक्खपहे अप्पाणं, ठवेहि तं चेव झाहि तं चेव।
तत्थेव विहर णिच्चं, मा विहरसु अन्नदव्वेसु ॥१९॥
मोक्षपथे आत्मानं, स्थापय तं चैव ध्याय तं चैव।
तत्रैव विहर नित्यं, मा विहरस्व अन्यद्रव्येषु ॥१९॥

५८६ इहपरलोगाससप्पओगं, तह जीयमरणभोगेसु।
वज्जिज्जा भाविज्ज य, असुहं संसारपरिणामं ॥२०॥
इहपरलोकाशंसा-प्रयोगो तथा जीवितमरणभोगेषु।
वर्जयेद् भावयेत् च अशुभं संसारपरिणामम् ॥२०॥

५८७ परदव्वादो दुग्गइ, सद्दव्वादो हु सुग्गई होई।
इय णाऊ सदव्वे, कुणह रई विरई इयरम्मि ॥२१॥
परद्रव्यात् दुर्गतिः, स्वद्रव्यात् खलु सुगतिः भवति।
इति ज्ञात्वा स्वद्रव्ये, कुरुत रतिं विरतिम् इतरस्मिन् ॥२१॥

•

५८५ भो भव्य ! तू मोक्षमार्ग में ही आत्मा को स्थापित कर। उसीका ध्यान कर। उसीका अनुभव कर तथा उसीमे विहार कर। अन्य द्रव्यों में विहार मत कर।

सलेखना-रत साधक को मरण-काल मे इस लोक और परलोक मे सुखादि के प्राप्त करने की इच्छा का तथा जीने और मरने की इच्छा का त्याग करके अन्तिम सास तक ससार के अशुभ परिणाम का चिन्तन करना चाहिए।

५८७ पर-द्रव्य अर्थात् धन-धान्य, परिवार व देहादि मे अनुरक्त होने से दुर्गति होती है और स्व-द्रव्य अर्थात् अपनी आत्मा में लीन होने से सुगति होती है। ऐसा जानकर स्व द्रव्य मे रत रहो और पर-द्रव्य से विरत।

•

समणसुत्तं

तृतीय खण्ड

तत्त्व-दर्शन

३४ तत्त्वसूत्र

५८८ जावन्तऽविज्जापुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा ।
लुप्पन्ति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणन्तए ॥१॥
यावन्तोऽविद्यापुरुषा, सर्वे ते दुःखसम्भवा ।
लुप्यन्ते बहुशो मूढा, संसारेऽनन्तके ॥१॥

५८९ समिक्ख पंडिए तम्हा, पासजाइपहे बहू ।
अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मेत्तिं भूएसु कप्पए ॥२॥
समीक्ष्य पण्डितस्तस्मात्, पाशजातिपथान् बहून् ।
आत्मना सत्यमेषयेत्, मैत्री भूतेषु कल्पयेत् ॥२॥

५९० तच्चं तह परमट्ठं, दव्वसहावं तहेव परमपरं ।
धेयं सुद्धं परमं, एयट्ठा हुंति अभिहाणा ॥३॥
तत्त्वं तथा परमार्थ, द्रव्यस्वभावस्तथैव परमपरम् ।
ध्येयं शुद्धं परमम्, एकार्थानि भवन्त्यभिधानानि ॥३॥

५९१ जीवाऽजीवा य बंधो य, पुण्णं पावाऽऽसवो तहा ।
संवरो निज्जरा मोक्खो, संतए तहिया नव ॥४॥
जीवा अजीवाश्च बन्धश्च, पुण्यं पापास्रवं तथा ।
संवरो निर्जरा मोक्षः सन्त्येते तथ्या नव ॥४॥

५९२ उवओगलक्खणमणाइ - निहणमत्थंतरं सरीराओ ।
जीवमरूविं कारिं, भोयं च सयस्स कम्मस्स ॥५॥
उपयोगलक्षणमनाद्य निधनमर्थान्तिरं शरीरात् ।
जीवमरूपिणं कारिणं भोगं च स्वकस्य कर्मणः ॥५॥

५९३ सुहदुक्खजाणणा वा, हिदपरियम्मं च अहिदभीरुत्तं ।
जस्स ण विज्जदि णिच्चं, तं समणा विंति अज्जीवं ॥६॥
सुखदुःखज्ञानं वा, हितपरिकर्म चाहितभीरुत्वम् ।
यस्य न विद्यते नित्यं, तं श्रमणा ब्रुवते अजीवं ॥६॥

३४ तत्त्वसूत्र

५८८ समस्त अविद्यावान् (अज्ञानी पुरुष) दु खी है—दु ख के उत्पादक है। वे विवेकमूढ अनन्त ससार मे वार-वार लुप्त होते है।

५८९ इसलिए पण्डितपुरुष अनेकविध पाश या वन्धनरूप स्त्री-पुत्रादि के सम्बन्धो को, जो कि जन्म-मरण के कारण है, समीक्षा करके स्वय सत्य की खोज करे और सब प्राणियो के प्रति मैत्रीभाव रखे।

५९० तत्त्व, परमार्थ, द्रव्य-स्वभाव, पर-अपर ध्येय, शुद्ध, परम—ये सब शब्द एकार्थवाची है।

५९१ जीव, अजीव, वन्ध, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा और मोक्ष—ये नौ तत्त्व या पदार्थ है।

५९२ जीव का लक्षण उपयोग है। यह अनादि-निधन है, शरीर से भिन्न है, अरूपी है और अपने कर्म का कर्ता-भोक्ता है।

५९३ श्रमण-जन उसे अजीव कहते है जिसे सुख-दु ख का ज्ञान नही होता, हित के प्रति उद्यम और अहित का भय नहीं होता।

५९४　अज्जीवो पुण णेओ, पुग्गल धम्मो अधम्म आयास ।
कालो पुग्गल मुत्तो, रूवादिगुणो अमुत्ति सेसा दु ॥७॥
अजीव पुन ज्ञेय पुदगल धम अधम आकाश ।
काल पुद्‌गल मूत रूपादिगुण, अमूतय गेपा खलु ॥७॥

५९५　नो इन्दियग्गेज्झ अमुत्तभावा, अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो ।
अज्झत्यहेउ निययऽस्स बधो, ससारहेउ च वयन्ति बध ॥८॥]
नो इन्द्रियग्राह्योऽमूतभावात्, अमूत्तभावादपि च भवति नित्य ।
अध्यात्महेतुर्नियत अस्य बध ससारहेतु च वदन्ति बधम् ॥८॥

५९६　रत्तो बघदि कम्म, मुच्चदि कम्मेहि रागरहिदप्पा ।
एसो बधसमासो, जीवाण जाण णिच्छयदो ॥९॥
रक्तो बध्नाति कर्म, मुच्यते कमभी रागरहितात्मा ।
एप बधममासो, जीवाना जानीहि निश्चयत ॥९॥

५९७　तम्हा णिव्वुदिकामो, राग सव्वत्थ कुणदि मा किंचि ।
सो तेण वीदरागो, भवियो भवसायर तरदि ॥१०॥
तस्मात् निवृत्तिकामो, राग सवत्र करोतु मा किंचित ।
स तेन वीतरागो, भव्यो भवसागर तरति ॥१०॥

५९८　कम्म पुण्ण पाव, हेऊ तेसि च होंति सच्छिदरा ।
मदकसाया सच्छा, तिव्वकसाया असच्छा हु ॥११॥
कम पुण्य पाप, हेतव तेपा च भवन्ति स्वच्छेतरा ।
मन्दकपाया स्वच्छा, तीव्रकपाया अस्वच्छा खलु ॥११॥

५९९　सव्वत्थ वि पियवयण, दुव्वयणे दुज्जणे वि खमकरण ।
सव्वेसि गुणगहण, मदकसायाण दिट्ठता ॥१२॥
सवत्र अपि प्रियवचन, दुवचने दुजने अपि क्षमाकरणम ।
सर्वेपा गुणग्रहण मन्दकपायाणा दृष्टान्ता ॥१२॥

६००　अप्पपसंसण-करण, पुज्जेसु वि दोसगहण-सीलत्त ।
वेरधरण च सुइर, तिव्वकसायाण लिंगाणि ॥१३॥
आत्मप्रशसनकरण, पूज्यपु अपि दोपग्रहणशीलत्वम ।
वैरधारण च सुचिर, तीव्रकपायाणा लिङ्गानि ॥१३॥

५९४ अजीवद्रव्य पाँच प्रकार का है—पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्म-द्रव्य, आकाश और काल। इनमें से पुद्गल रूपादि गुण युक्त होने से मूर्तिक है। शेष चारो अमूर्तिक हैं।

५९५ आत्मा (जीव) अमूर्त है, अत वह इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नही है। तथा अमर्त पदार्थ नित्य होता है। आत्मा के आन्तरिक रागादि भाव ही निश्चयत बन्ध के कारण है और बन्ध को ससार का हेतु कहा गया है।

५९६ रागयुक्त ही कर्मबन्ध करता है। रागरहित आत्मा कर्मों से मुक्त होती है। यह निश्चय मे सक्षेप में जीवो के बन्ध का कथन है।

५९७ इसलिए मोक्षाभिलाषी को तनिक भी राग नही करना चाहिए। ऐसा करने से वह वीतराग होकर भवसागर को तैर जाता है।

५९८ कर्म दो प्रकार का है—पुण्यरूप और पापरूप। पुण्यकर्म के बन्ध का हेतु स्वच्छ या शुभभाव है और पापकर्म के बन्ध का हेतु अस्वच्छ या अशुभ भाव है। मन्दकषायी जीव स्वच्छ-भाववाले होते है तथा तीव्रकषायी जीव अस्वच्छभाववाले।

५९९ सर्वत्र ही प्रिय वचन बोलना, दुर्वचन बोलनेवाले को भी क्षमा करना तथा सबके गुणो को ग्रहण करना—ये मन्दकषायी जीवो के लक्षण है।

६०० अपनी प्रशसा करना, पूज्य पुरुषो में भी दोष निकालने का स्वभाव होना, दीर्घकाल तक वैर की गाठ को बाँधे रखना—ये तीव्रकषायवाले जीवो के लक्षण या चिह्न है।

६०१ रागद्दोसपमत्तो, इंदियवसओ करेइ कम्माइं।
आसववारेहिं अविगुहेहिं तिविहेण करणेण ॥१४॥
रागद्वेषप्रमत्त, इन्द्रियवशग करोति कर्माणि।
आस्रवद्वारैरविगूहितैस्त्रिविधेन करणेन ॥१४॥

६०२ आसवदारेहिं सया, हिंसाईएहिं कम्ममासवइ।
जह नावाइ विणासो, छिद्देहि जल उयहिमज्झे ॥१५॥
आस्रवद्वारैः सदा, हिंसादिकैः कर्म स्रवति।
यथा नावो विनाश-श्छिद्रैः जलम उदधिमध्ये ॥१५॥

६०३ मणसा वाया कायेण, का वि जुत्तस्स विरियपरिणामो।
जीवस्स-प्पणिओगो, जोगो त्ति जिर्णेहिं णिद्दिट्ठो ॥१६॥
मनसा वाचा कायेन, वापि युक्तस्य वीर्यपरिणाम।
जीवस्य प्रणियोग, योग इति जिनैर्निर्दिष्ट ॥१६॥

६०४ जहा जहा अप्पतरो से जोगो, तहा तहा अप्पतरो से बंधो।
निरुद्धजोगिस्स व से ण होति, अछिद्दपोतस्स व अंबुणाथे ॥१७॥
यथा यथा अल्पतर तस्य योग, तथा तथा अल्पतर तस्य बंध।
निरुद्धयोगिन वा स न भवति, अछिद्रपोतस्येव अम्बुनाथे ॥१७॥

६०५ मिच्छत्ताविरदी वि य, कसाय जोगा य आसवा होंति।
संजम विराय-दंसण-जोगाभावो य संवरओ ॥१८॥
मिथ्यात्वाऽविरति अपि च कषाया योगाश्च आस्रवा भवन्ति।
संयम विराग-दर्शन-योगाभावश्च संवरक ॥१८॥

६०६ रुंधियछिद्दसहस्से, जलजाणे जह जल तु णासवदि।
मिच्छत्ताइअभावे, तह जीवे संवरो होइ ॥१९॥
रुद्धछिद्रसहस्रे, जलयाने यथा जल तु नास्रवति।
मिथ्यात्वाद्यभावे, तथा जीवे संवरो भवति ॥१९॥

६०७ सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्म भूयाइ पासओ।
पिहियासवस्स दंतस्स, पाव कम्म न बंधई ॥२०॥
सर्वभूतात्मभूतस्य, सम्यक भूतानि पश्यत।
पिहितास्रवस्य दान्तस्य पाप कर्म न बध्यते ॥२०॥

६०१ रागद्वेष मे प्रमत्त बना जीव इन्द्रियाधीन होकर मन-वचन-काय के द्वारा उसके आस्रव-द्वार बराबर खुले रहने के कारण निरन्तर कर्म करता रहता है ।

६०२ हिंसा आदि आस्रवद्वारो से सदा कर्मो का आस्रव होता रहता है जैसे कि समुद्र में जल के आने से सछिद्र नौका डूब जाती है ।

६०३ (योग भी आस्रव द्वार है ।) मन, वचन, काय से युक्त जीव का जो वीर्य परिणाम या प्रदेश-परिस्पन्दनरूप प्रणियोग होता है, उसे योग कहते है ।

६०४ जैसे जैसे योग अल्पतर होता है, वैसे-वैसे बध या आस्रव भी अल्पतर होता है । योग का निरोध हो जाने पर बध नही होता, जैसे कि छेदरहित जहाज में जल प्रवेश नही करता ।

६०५ मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग—ये आस्रव के हेतु है । सयम, विराग, दर्शन और योग का अभाव—ये सवर के हेतु हैं ।

६०६ जैसे जलयान के हजारो छेद बद कर देने पर उसमें पानी नही घुसता, वैसे ही मिथ्यात्व आदि के दूर हो जाने पर जीव में सवर होता है ।

६०७ जो समस्त प्राणियो को आत्मवत देखता है और जिसने कर्मास्रव के सारे द्वार बन्द कर दिये हैं, उस सयमी को पापकर्म का बध नही होता ।

६०८ मिच्छत्तासवदार, रुभइ सम्मत्तदिढकवाडेण ।
हिंसादिदुवाराणि वि, दिढवयफलिर्हाहिं रुभति ॥२१॥
मिथ्यात्वास्रवद्वार रुध्यते सम्यक्त्वदृढकपाटेन ।
हिंसादिद्वाराणि अपि दृढव्रतपरिघैं रुध्यन्ते ॥२१॥

६०९–६१० जहा महातलायस्स, सन्निरुद्धे जलागमे ।
उस्सिचणाए तवणाए, कमेण सोसणा भवे ॥२२॥
एव तु सजयस्सावि, पावकम्मनिरासवे ।
भवकोडीसचिय कम्म, तवसा निज्जरिज्जइ ॥२३॥
यथा महातडागस्य, सन्निरुद्धे जलागमे ।
उत्सिञ्चनया तपनया, क्रमेण शोषणा भवेत् ॥२२॥
एव तु सयतस्यापि, पापकमनिरास्रवे ।
भवकोटिसचित वम, तपसा निर्जीयते ॥२३॥

६११ तवसा चेव ण मोक्खो, सवरहीणस्स होइ जिणवयणे ।
ण हु सोत्ते पविसते, किसिण परिसुस्सदि तलाय ॥२४॥
तपसा चव न मोक्ष , सवरहीनस्य भवति जिनवचने ।
न हि स्रोतसि प्रविशति, कृत्स्न परिशुष्यति तडागम् ॥२४॥

६१२ ज अन्नाणी कम्म खवेइ बहुआहिं वासकोडीहिं ।
त नाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेण ॥२५॥
यद् अज्ञानी कर्म, क्षपयति बहुकाभिर्वर्षकोटीभि ।
तद् ज्ञानी त्रिभिर्गुप्त , क्षपयत्युच्छ्वासमात्रेण ॥२५॥

६१३ सेणावइम्मि णिहए, जहा सेणा पणस्सई ।
एव कम्माणि णस्सति, मोहणिज्जे खय गए ॥२६॥
सेनापतौ निहते, यथा सेना प्रणश्यति ।
एव कर्माणि नश्यन्ति, मोहनीये क्षय गते ॥२६॥

६१४ कम्ममलविप्पमुक्को, उड्ढ लोगस्स अतमधिगता ।
सो सव्वणाणदरिसी, लहदि सुहमणिदियमणत ॥२७॥
कममलविप्रमुक्त, ऊर्ध्व लोकस्यान्तमधिगम्य ।
स सवज्ञानदर्शी, लभते सुखमनिन्द्रियमनन्तम् ॥२७॥

६०८ मुमुक्षुजीव सम्यक्त्वरूपी दृढ कपा ो से मिथ्यात्वरूपी आस्रव-द्वार को रोकता है तथा दृढ व्रतरूपी कपाटो से हिंसा आदि द्वारो को रोकता है।

६०९–६१० जैसे किसी बडे तालाब का जल, जल के मार्ग को ब द करने से, पहले के जल को उलीचने से तथा सूर्य के ताप से क्रमश सूख जाता है, वैसे ही संयमी का करोड़ो भवो में संचित कर्म पापकर्म के प्रवेश-मार्ग को रोक देने पर तथा तप से निर्जरा को प्राप्त होता है—नष्ट होता है।

६११ यह जिन-वचन है कि सवरविहीन मुनि को केवल तप करने से ही मोक्ष नही मिलता, जसे कि पानी के आने का स्रोत खुला रहने पर तालाब का पूरा पानी नही सूखता।

६१२ अज्ञानी व्यक्ति तप के द्वारा करोडो ज मो या वर्षो म जितने कर्मो का क्षय करता है, उतने कर्मो का नाश ज्ञानी व्यक्ति त्रिगुप्ति के द्वारा एक साँस में सहज कर डालता है।

६१३ जैसे सेनापति के मारे जाने पर सेना नष्ट हो जाती है, वैसे ही एक मोहनीय कर्म के क्षय होने पर समस्त कर्म सहज ही नष्ट हो जाते ह।

६१४ कर्ममल से विमुक्त जीव ऊपर लोका त तक जाता है और वहाँ वह सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी के रूप में अतीन्द्रिय अनन्तसुख भोगता है।

६१५ चक्किकुरुफणिसुरेंदेसु, अहमिंदे जं सुहं तिकालभवं ।
तत्तो अणंतगुणिदं, सिद्धाणं खणसुहं होदि ॥२८॥
चक्रिकुरुफणिसुरेन्द्रेषु, अहमिन्द्रे यत् सुखं त्रिकालभवम् ।
ततः अनन्तगुणितं, सिद्धानां क्षणसुखं भवति ॥२८॥

६१६ सव्वे सरा नियट्टंति, तक्का जत्थ न विज्जइ ।
मई तत्थ न गाहिया, ओए अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने ॥२९॥
सर्वे स्वरा निवर्त्तन्ते, तर्को यत्र न विद्यते ।
मतिस्तत्र न ग्राहिका ओजः अप्रतिष्ठानस्य खेदज्ञः ॥२९॥

६१७ ण वि दुक्खं ण वि सुक्खं, ण वि पीडा णेव विज्जदे बाहा ।
ण वि मरणं ण वि जणणं, तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥३०॥
नापि दुःखं नापि सौख्यं नापि पीडा नैव विद्यते बाधा ।
नापि मरणं नापि जननं तत्रैव च भवति निर्वाणम् ॥३०॥

६१८ ण वि इंदिय उवसग्गा, ण वि मोहो विम्हयो ण णिद्दा य ।
ण य तिण्हा णेव छुहा, तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥३१॥
नापि इन्द्रियाणि उपसर्गाः, नापि मोहो विस्मयो न निद्रा च ।
न च तृष्णा नैव क्षुधा, तत्रैव च भवति निर्वाणम् ॥३१॥

६१९ ण वि कम्मं णोकम्मं, ण वि चिंता णेव अट्टरुद्दाणि ।
ण वि धम्मसुक्कझाणे, तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥३२॥
नापि कर्म नोकर्म, नापि चिन्ता नैवार्तरौद्रे ।
नापि धर्मशुक्लध्याने, तत्रैव च भवति निर्वाणम् ॥३२॥

६२० विज्जदि केवलणाणं, केवलसोक्खं च केवलं विरयं ।
केवलदिट्ठि अमुत्तं, अत्थित्तं सप्पदेसत्तं ॥३३॥
विद्यते केवलज्ञानं, केवलसौख्यं च केवलं वीर्यम् ।
केवलदृष्टिरमूर्तत्व-मस्तित्वं सप्रदेशत्वम् ॥३३॥

६१५ चक्रवर्तियों को, उत्तरकुरु, दक्षिणकुरु आदि भोगभूमिवाले जीवों को, तथा फणीन्द्र, सुरेन्द्र एवं अहमिन्द्रों को त्रिकाल में जितना सुख मिलता है उस सबसे भी अनन्तगुना सुख सिद्धों को एक क्षण में अनुभव होता है ।

६१६ मोक्षावस्था का शब्दों में वर्णन करना सम्भव नहीं है, क्योंकि वहाँ शब्दों की प्रवृत्ति नहीं है । न वहाँ तर्क का ही प्रवेश सम्भव है, क्योंकि वहाँ मानस-व्यापार सम्भव नहीं है । मोक्षावस्था संकल्प विकल्पातीत है । साथ ही समस्त मलकलंक से रहित होने से वहाँ ओज भी नहीं है । रागातीत होने के कारण सातवें नरक तक की भूमि का ज्ञान होने पर भी वहाँ किसी प्रकार का खेद नहीं है ।

६१७ जहाँ न दुःख है न सुख, न पीडा है न बाधा, न मरण है न जन्म, वही निर्वाण है ।

६१८ जहाँ न इन्द्रियाँ हैं न उपसर्ग, न मोह है न विस्मय, न निद्रा है न तृष्णा और न भूख, वही निर्वाण है ।

६१९ जहाँ न कर्म है न नोकर्म, न चिन्ता है न आर्तरौद्र ध्यान, न धर्मध्यान है और न शुक्लध्यान, वहीं निर्वाण है ।

६२० वहाँ अर्थात् मुक्तजीवों में केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख, केवलवीर्य, अरूपता अस्तित्व और सप्रदेशत्व-ये गुण होते हैं ।

६२१ निव्वाण ति अवाहति, सिद्धी लोगग्गमेव य ।
खेम सिव अणावाह, ज चरति महेसिणो ॥३४॥
निर्वाणमित्यवाधमिति, सिद्धिर्लोकाग्रमेव च ।
क्षेम शिवमनावाध, यत् चरन्ति महर्षय ॥३४॥

६२२ लाउअ एरण्डफले, अग्गीधूमे उसू धणुविमुक्के ।
गइ पुव्वपओगेण, एव सिद्धाण वि गती तु ॥३५॥
अलावु च एरण्डफल-मग्निधूम इषुधनुर्विप्रमुक्त ।
गति पूर्वप्रयोगेणैव, सिद्धानामपि गतिस्तु ॥३५॥

६२३ अव्वावाहमणिंदिय-मणोवम पुण्णपावणिम्मुक्क ।
पुणरागमणविरहिय, णिच्च अचल अणालव ॥३६॥
अव्यावाधमनिन्द्रिय-मनुपम पुण्यपापनिर्मुक्तम् ।
पुनरागमनविरहित, नित्यमचलमनालम्वम् ॥३६॥

३५ द्रव्यसूत्र

६२४ धम्मो अहम्मो आगास, कालो पुग्गल जन्तवो ।
एस लोगो त्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥१॥
धर्मोऽधर्म आकाश, काल पुद्गला जन्तव ।
एप लोक इति प्रज्ञप्त, जिनैर्वरदर्शिभि ॥१॥

६२५ आगासकालपुग्गल धम्माधम्मेसु णत्थि जीवगुणा ।
तेसिं अचेदणत्त, भणिद जीवस्स चेदणदा ॥२॥
आकाशकालपुद्गल धर्माधर्मेपु न सन्ति जीवगुणा ।
तेपामचेतनत्व, भणित जीवस्य चेतनता ॥२॥

६२६ आगासकालजीवा, धम्माधम्मा य मुत्तिपरिहीणा ।
मुत्त पुग्गलदव्व, जीवो खलु चेदणो तेसु ॥३॥
आकाशकालजीवा, धर्माधर्मौ च मूर्तिपरिहीना ।
मूर्त्त पुद्गलद्रव्य, जीव खलु चेतनस्तेपु ॥३॥

६२१ जिस स्थान को महर्षि ही प्राप्त करते हैं वह स्थान निर्वाण है, अबाध है, सिद्धि है, लोकाग्र है, क्षेम, शिव और अनाबाध है।

६२२ जैसे मिट्टी से लिप्त तुम्बी जल मे डूब जाती है और मिट्टी का लेप दूर होते ही ऊपर तैरने लग जाती है अथवा जैसे एरण्ड का फल धूप से सूखने पर फटता है तो उसके बीज ऊपर को ही जाते हैं अथवा जैसे अग्नि या धूम की गति स्वभावत ऊपर की ओर होती है अथवा जैसे धनुष से छूटा हुआ बाण पूर्व-प्रयोग से गतिमान् होता है, वैसे ही सिद्ध जीवो की गति भी स्वभावत ऊपर की ओर होती है।

६२३ परमात्म-तत्त्व, अव्याबाध, अतीन्द्रिय, अनुपम, पुण्य पापरहित, पुनरागमनरहित, नित्य, अचल और निरालम्ब होता है।

३५ द्रव्यसूत्र

६२४ परमदर्शी जिनवरो ने लोक को धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्‌गल और जीव इस प्रकार छह द्रव्यात्मक कहा है।

६२५ आकाश, काल, पुद्‌गल, धर्म और अधर्म द्रव्यो मे जीव के गुण नही होते, इसलिए इन्हें अजीव कहा गया है। जीव का गुण चेतनता है।

६२६ आकाश, काल, जीव, धर्म और अधर्म द्रव्य अमूर्तिक है। पुद्‌गल द्रव्य मूर्तिक है। इन सबमें केवल जीव द्रव्य ही चेतन है।

६२७ जीवा पुग्गलकाया, सह सक्किरिया हवंति ण य सेसा ।
पुग्गलकरणा जीवा, खंधा खलु कालकरणा दु ॥४॥
जीवाः पुद्गलकायाः, सह सक्रिया भवन्ति न च शेषाः ।
पुद्गलकरणा जीवाः, स्कन्धा खलु कालकरणास्तु ॥४॥

६२८ धम्मो अहम्मो आगासं, दव्वं इक्किक्कमाहियं ।
अणंताणि य दव्वाणि, कालो पुग्गल जंतवो ॥५॥
धर्मोऽधर्म आकाशं, द्रव्यमेकैकमाख्यातम् ।
अनन्तानि च द्रव्याणि, कालः (समयाः) पुद्गलाः जन्तवः ॥५॥

६२९ धम्माधम्मे य दोऽवेए, लोगमित्ता वियाहिया ।
लोगालोगे य आगासे, समए समयखेत्तिए ॥६॥
धर्माऽधर्मो च द्वावप्येतौ, लोकमात्रौ व्याख्यातौ ।
लोकेऽलोके चाकाशं, समयः समयक्षेत्रिकः ॥६॥

६३० अन्नोन्नं पविसंता, दिंता ओगासमन्नमन्नस्स ।
मेलंता वि य णिच्चं, सगं सभावं ण विजहंति ॥७॥
अन्योन्यं प्रविशन्ति, ददत्यवकाशमन्योऽन्यस्य ।
मिलन्तोऽपि च नित्यं, स्वकं स्वभावं न विजहति ॥७॥

६३१ धम्मत्थिकायमरसं, अवण्णगंधं असद्दमप्फासं ।
लोगोगाढं पुट्ठं, पिहुलमसंखादिय-पदेसं ॥८॥
धर्मास्तिकायोऽरसो ऽवर्णगन्धोऽशब्दोऽस्पर्शः ।
लोकावगाढः स्पृष्टः पृथुलाऽसंख्यातिकप्रदेशः ॥८॥

६३२ उदयं जह मच्छाणं, गमणाणुग्गहयरं हवदि लोए ।
तह जीवपुग्गलाणं, धम्मं दव्वं वियाणेहि ॥९॥
उदकं यथा मत्स्यानां, गमनानुग्रहकरं भवति लोके ।
तथा जीवपुद्गलानां, धर्मं द्रव्यं विजानीहि ॥९॥

६३३ ण य गच्छदि धम्मत्थी, गमणं ण करेदि अन्नदवियस्स ।
हवदि गती स प्पसरो, जीवाणं पुग्गलाणं च ॥१०॥
न च गच्छति धर्मास्तिकायः, गमनं न करोत्यन्यद्रव्यस्य ।
भवति गतेः स प्रसरः, जीवानां पुद्गलानां च ॥१०॥

६२७ जीव और पुद्गलकाय ये दो द्रव्य सक्रिय है। शेष सब द्रव्य निष्क्रिय ह। जीव के सक्रिय होने का बाह्य साधन कर्म नोकर्मरूप पुद्गल है और पुदगल के सक्रिय हाने का बाह्य साधन कालद्रव्य है।

६२८ धम, अधम और आकाश ये तीना द्रव्य सख्या म एक-एक ह। (व्यवहार–) काल, पुद्गल और जीव ये तीना द्रव्य अनत-अनत ह।

६२९ धम और अधम ये दोनो ही द्रव्य लोकप्रमाण ह। आकाश लोक और अलोक में व्याप्त है। (व्यवहार–) काल केवल समयक्षेत्र अर्थात् मनुष्यक्षेत्र म ही है।

६३० य सब द्रव्य परस्पर मे प्रविष्ट ह। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को अवकाश देते हुए स्थित है। ये इसी प्रकार अनादिकाल से मिले हुए ह, किन्तु अपना-अपना स्वभाव नही छोडते ह।

६३१ धर्मास्तिकाय रस-रहित है, रूप-रहित है स्पर्श और गन्ध-रहित है और शब्द-रहित है। समस्त लोकाकाश में व्याप्त है, अखण्ड है, विशाल है और असख्यातप्रदेशी है।

६३२ जसे इस लोक में जल मछलियो के गमन मे सहायक होता है, वैसे ही धमद्रव्य जीवो तथा पुद्गलो के गमन मे सहायक या निमित्त बनता है।

६३३ धर्मास्तिकाय स्वय गमन नहीं करता और न अन्य द्रव्यो का गमन कराता है। वह तो जीवो और पुद्गलो की गति में उदासीन कारण है। यही धर्मास्तिकाय का लक्षण है।

६३४ जह हवदि धम्मदव्वं, तह तं जाणेह दव्वमधम्मक्खं ।
ठिदिकिरियाजुत्ताणं, कारणभूदं तु पुढवीव ॥११॥
यथा भवति धर्मद्रव्यं, तथा तद् जानीहि द्रव्यमधर्माख्यम् ।
स्थितिक्रियायुक्तानां, कारणभूतं तु पृथिवीव ॥११॥

६३५ चेयणरहियममुत्तं, अवगाहणलक्खणं च सव्वगयं ।
लोयालोयविभेयं, तं णहदव्वं जिणुद्दिट्ठं ॥१२॥
चेतनारहितममूर्त्तं, अवगाहनलक्षणं च सर्वगतम् ।
लोकालोकद्विभेदं, तद् नभोद्रव्यं जिनोद्दिष्टम् ॥१२॥

६३६ जीवा चेव अजीवा य, एस लोए वियाहिए ।
अजीवदेसमागासे, अलोए से वियाहिए ॥१३॥
जीवाश्चैवाजीवाश्च, एष लोको व्याख्यातः ।
अजीवदेश आकाशः, अलोकः स व्याख्यातः ॥१३॥

६३७ पासरसगंधवण्ण-व्वदिरित्तो अगुरुलहुगसंजुत्तो ।
वत्तणलक्खणकलियं, कालसरूवं इमं होदि ॥१४॥
स्पर्शरसगन्धवर्णव्यतिरिक्तम् अगुरुलघुकसंयुक्तम् ।
वर्तनलक्षणकलितं कालस्वरूपम् इदं भवति ॥१४॥

६३८ जीवाण पुग्गलाणं, हुवंति परियट्टणाइ विविहाइ ।
एदाणं पज्जाया, वट्टंते मुक्खकालआधारे ॥१५॥
जीवानां पुद्गलानां भवन्ति परिवर्तनानि विविधानि ।
एतेषां पर्यायाः वर्तन्ते मुख्यकालआधारे ॥१५॥

६३९ समयावलिउस्सासा, पाणा थोवा य आदिआ भेदा ।
ववहारकालणामा, णिद्दिट्ठा वीयराएहिं ॥१६॥
समयआवलिउच्छ्वासाः प्राणाः स्तोकाश्च आदिका भेदाः ।
व्यवहारकालनामानः निर्दिष्टाः वीतरागैः ॥१६॥

६४० अणुखंधवियप्पेण दु, पोग्गलदव्वं हवेइ दुवियप्पं ।
खंधा हु छप्पयारा, परमाणू चेव दुवियप्पो ॥१७॥
अणुस्कन्धविकल्पेन तु, पुद्गलद्रव्यं भवति द्विविकल्पम् ।
स्कन्धाः खलु षट्प्रकाराः, परमाणुश्चैव द्विविकल्पः ॥१७॥

६३४ धर्मद्रव्य की तरह ही अधर्मद्रव्य है। परन्तु अन्तर यह है कि यह स्थितिरूप क्रिया से युक्त जीवों और पुद्गलों की स्थिति में पृथ्वी की तरह निमित्त बनता है।

६३५ जिनेन्द्रदेव ने आकाश-द्रव्य को अचेतन, अमूर्त, व्यापक और अवगाह लक्षणवाला कहा है। लोक और अलोक के भेद से आकाश दो प्रकार का है।

६३६ यह लोक जीव और अजीवमय कहा गया है। जहां अजीव का एकदेश (भाग) केवल आकाश पाया जाता है, उसे अलोक कहते हैं।

६३७ स्पर्श, गंध, रस और रूप से रहित, अगुरु-लघु गुण से युक्त तथा वर्तना लक्षणवाला कालद्रव्य कहा गया है।

६३८ जीवों और पुद्गलों में नित्य होनेवाले अनेक प्रकार के परिवर्तन या पर्याय मुख्यतः कालद्रव्य के आधार से होती हैं। अर्थात् उनके परिणमन में कालद्रव्य निमित्त होता है। (इसीको आगम में निश्चयकाल कहा जाता है।)

६३९ वीतरागदेव ने बताया है कि व्यवहार-काल समय, आवलि, उच्छ्वास, प्राण, स्तोक आदि रूपात्मक है।

६४० अणु और स्कंध के रूप में पुद्गल-द्रव्य दो प्रकार का है। स्कंध छह प्रकार का है और परमाणु दो प्रकार का—कारण-परमाणु और कार्य-परमाणु।

६४८ आदा णाणपमाणं, णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं ।
णेयं लोयालोयं, तम्हा णाणं तु सव्वगयं ।।२५।।
आत्मा ज्ञानप्रमाणं, ज्ञानं ज्ञेयप्रमाणमुद्दिष्टम् ।
ज्ञेयं लोकालोकं, तस्माज्ज्ञानं तु सर्वगतम् ।।२५।।

६४९ जीवा संसारत्था, णिव्वादा चेदणप्पगा दुविहा ।
उवओगलक्खणा वि य, देहादेहप्पवीचारा ।।२६।।
जीवाः संसारस्थाः, निर्वाताः, चेतनात्मका द्विविधाः ।
उपयोगलक्षणा अपि च, देहादेहप्रवीचाराः ।।२६।।

६५० पुढविजलतेयवाऊ-वणप्फदी विविहथावरेइंदी ।
विगतिगचदुपंचक्खा, तसजीवा होंति संखादी ।।२७।।
पृथिवीजलतेजोवायु-वनस्पतयः विविधस्थावरैकेन्द्रियाः ।
द्विकत्रिकचतुःपञ्चाक्षाः, त्रसजीवा भवन्ति शङ्खादयः ।।२७।।

३६ सृष्टिसूत्र

६५१ लोगो अकिट्टिमो खलु, अणाइणिहणो सहावणिव्वत्तो ।
जीवाजीवेहिं फुडो, सव्वागासावयवो णिच्चो ।।१।।
लोकः अकृत्रिमः खलु, अनादिनिधनः स्वभावनिर्वृत्तः ।
जीवाजीवैः स्पृष्टः, सर्वाकाशावयवः नित्यः ।।१।।

६५२ अपदसो परमाणू, पदसमेत्तो य समयसद्दो जो ।
णिद्धो वा लुक्खो वा, दुपदेसादित्तमणुहवदि ।।२।।
अप्रदेशः परमाणुः, प्रदेशमात्रश्च स्वयमशब्दो यः ।
स्निग्धो वा रूक्षो वा, द्विप्रदेशादित्वमनुभवति ।।२।।

६५३ दुपदेसादी खंधा, सुहुमा वा बादरा ससंठाणा ।
पुढविजलतेउवाऊ, सगपरिणामेहिं जायंते ।।३।।
द्विप्रदेशादयः स्कन्धाः, सूक्ष्मा वा बादराः ससंस्थानाः ।
पृथिवीजलतेजोवायवः, स्वकपरिणामैर्जायन्ते ।।३।।

६४८ (इस प्रकार व्यवहारनय से जीव शरीरव्यापी है, किन्तु–) वह ज्ञान-प्रमाण है, ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है तथा ज्ञेय लोक-अलोक है, अत ज्ञान सर्वव्यापी है । ज्ञान प्रमाण आत्मा होने से आत्मा भी सर्वव्यापी है ।

६४९ जीव दो प्रकार के ह—ससारी और मुक्त । दोनो ही चेतना स्वभाववाले और उपयोग लक्षणवाले हैं । ससारी जीव शरीरी होते ह और मुक्तजीव अशरीरी ।

६५० ससारीजीव भी त्रस और स्थावर दो प्रकार के ह । पृथ्वीकायिक, जलकायिक, तेजकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये सब एकेन्द्रिय स्थावर जीव है और शख, पिपीलिका, भ्रमर तथा मनुष्य-पशु आदि क्रमश द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पचेन्द्रिय त्रस जीव हैं ।

३६ सृष्टिसूत्र

६५१ वस्तुत यह लोक अकृत्रिम है, अनादिनिधन है, स्वभाव से ही निर्मित है, जीव व अजीव द्रव्यो से व्याप्त है, सम्पूर्ण आकाश का ही एक भाग है तथा नित्य है ।

६५२ (लोक में व्याप्त–) पुद्गल-परमाणु एकप्रदेशी है—दो आदि प्रदेशी नही है, तथा वह शब्दरूप नही है, फिर भी उसमें स्निग्ध व रूक्ष स्पर्श का ऐसा गुण है कि एक परमाणु दूसरे परमाणुओ से बंधने या जुडने पर (मिलकर) दो प्रदेशी आदि स्कध का रूप धारण कर लेते हैं ।

६५३ द्विप्रदेशी आदि सारे सूक्ष्म और बादर (स्थूल) स्कध अपने परिणमन के द्वारा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के रूप में अनेक आकारवाले बन जाते है ।

६५४ ओगाढगाढणिचिदो, पुग्गलकार्याह सव्वदो लोगो ।
सुहुमेहि वादरेहि य, अप्पाओग्गेहि जोग्गेहि ॥४॥
अवगाढगाढनिचित, पुद्गलकायै सवतो लोक ।
सूक्ष्मैर्वादरैश्चा-प्रायाग्यर्योग्यै ॥८॥

६५५ कम्मत्तणपाओग्गा, खधा जीवरस परिणइ पप्पा ।
गच्छंति कम्मभाव, ण हि ते जीवेण परिणमिदा ॥५॥
कमत्वप्रायाग्या, स्कधा जीवस्य परिणति प्राप्य ।
गच्छन्ति कमभाव, न हि ते जीवेन परिणमिता ॥५॥

५६ भावेण जेण जीवो, पेच्छदि जाणादि आगद विसये ।
रज्जदि तेणेव पुणो, वज्झदि कम्म त्ति उवदेसो ॥६॥
भावेन येन जीव प्रेक्षते जानात्यागत विपये ।
रज्यति तेनैव पुनर्बध्यते कर्मेत्युपदेश ॥६॥

६५७ सव्वजीवाण कम्म तु, सगहे छद्दिसागय ।
सव्वेसु वि पएसेसु, सव्व सव्वेण वद्धग ॥७॥
सवजीवाना कम तु, सग्रहे पड्दिशागतम् ।
सर्वेष्वपि प्रदेशेपु, सव सर्वेण वद्धकम ॥७॥

६५८ तेणावि ज कय कम्म, सुह वा जइ वा दुह ।
कम्मुणा तेण सजुत्तो, गच्छई उ पर भव ॥८॥
तेनापि यत् कृत कम, सुख वा यदि वा दुखम् ।
कमणा तेन सयुक्त, गच्छति तु पर भवम् ॥८॥

६५९ ते ते कम्मत्तगदा, पोग्गलकाया पुणो वि जीवस्स ।
सजायते देहा, देहतरसकम पप्पा ॥९॥
ते ते कमत्वगता, पुद्गलकाया पुनरपि जीवस्य ।
सजायन्ते देहा देहान्तरसक्रम प्राप्य ॥९॥

६५४ यह लोक सब ओर से इन सूक्ष्म-बादर पुद्गल-स्कन्धो से ठसाठस भरा हुआ है । उनमें से कुछ पुद्गल कर्मरूप से परिणमन के योग्य होते हैं और कुछ अयोग्य होते हैं ।

६५५ कर्मरूप मे परिणमित होने के योग्य पुद्गल जीव के रागादि (भावो) का निमित्त पाकर स्वय ही कर्मभाव को प्राप्त हो जाते ह । जीव स्वय उन्हे (बलपूर्वक) कर्म के रूप में परिणमित नही करता ।

६५६ जीव अपने राग या द्वेषरूप जिस भाव से सपृक्त होकर इन्द्रिया के विषयो के रूप मे आगत या ग्रहण किये गये पदार्थो को जानता-देखता हैं, उन्हीसे उपरक्त होता है और उसी उपरागवश नवीन कर्मो का बध करता है ।

६५७ सभी जीवो के लिए सग्रह (बद्ध) करने के योग्य कर्म-पुद्गल छहो दिशाओ में सभी आकाशप्रदेशो मे विद्यमान हैं । वे सभी कर्म-पुद्गल आत्मा के सभी प्रदेशो के साथ बद्ध होते हैं ।

६५८ व्यक्ति सुख-दु खरूप या शुभाशुभरूप जो भी कर्म करता है, वह अपने उन कर्मो के साथ ही परभव में जाता है ।

६५९ इस प्रकार कर्मो के रूप में परिणत वे पुद्गल-पिण्ड देह से देहान्तर को—नवीन शरीररूप परिवर्तन को—प्राप्त होते रहते ह । अर्थात् पूर्वबद्ध कर्म के फलरूप में नया शरीर बनता है और नया शरीर पाकर नवीन कर्म का बध होता है । इस तरह जीव निरन्तर विविध योनियो में परिभ्रमण करता रहता है ।
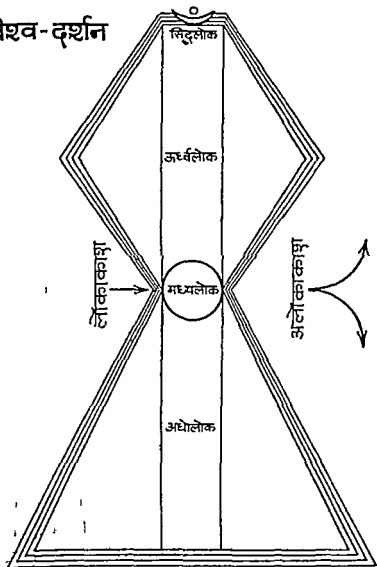
चौदह राजु उत्तग नभ लोक पुरुष सठान।
तामें जीव अनादिते भरमत हैं बिन ज्ञान॥

समणसुत्तं

चतुर्थ खण्ड

स्याद्वाद

३७ अनेकान्तसूत्र

६६० जेण विणा लोगस्स वि, ववहारो सव्वहा न निव्वहइ ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो, णमो अणेगंतवायस्स ॥१॥
येन विना लोकस्य अपि व्यवहारः सर्वथा न निर्वहति ।
तस्मै भुवनैकगुरवे नमः अनेकान्तवादाय ॥१॥

६६१ गुणाणमासओ दव्वं, एगदव्वस्सिया गुणा ।
लक्खणं पज्जवाणं तु, उभओ अस्सिया भवे ॥२॥
गुणानामाश्रयो द्रव्यं, एकद्रव्याश्रिता गुणाः ।
लक्षणं पर्यवाणां तु, उभयाराश्रिता भवन्ति ॥२॥

६६२ दव्वं पज्जवविउयं, दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि ।
उप्पायट्ठिइभंगा, हंदि दवियलक्खणं एयं ॥३॥
द्रव्यं पर्यववियुतं, द्रव्यवियुक्ताश्च पर्यवाः न सन्ति ।
उत्पादस्थितिभङ्गाः, हन्त द्रव्यलक्षणमेतत् ॥३॥

६६३ ण भवो भंगविहीणो, भंगो वा णत्थि संभवविहीणो ।
उप्पादो वि य भंगो, ण विणा धोव्वेण अत्थेण ॥४॥
न भवो भङ्गविहीनो, भङ्गो वा नास्ति सम्भवविहीनः ।
उत्पादोऽपि च भङ्गो, न विना ध्रौव्येणार्थेन ॥४॥

६६४ उप्पादट्ठिदिभंगा, विज्जंते पज्जएसु पज्जाया ।
दव्वं हि संति णियदं, तम्हा दव्वं हवदि सव्वं ॥५॥
उत्पादस्थितिभङ्गाः, विद्यन्ते पर्यायेषु पर्यायाः ।
द्रव्यं हि सन्ति नियतं तस्माद् द्रव्यं भवति सर्वम् ॥५॥

६६५ समवेदं खलु दव्वं, संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं ।
एक्कम्मि चेव समये, तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं ॥६॥
समवेतं खलु द्रव्यं, सम्भवस्थितिनाशसंज्ञितार्थैः ।
एकस्मिन् चैव समये, तस्माद्द्रव्यं खलु तत् त्रितयम् ॥६॥

३७ अनेकान्तसूत्र

६६० जिसके विना लोक का व्यवहार विलकुल नही चल सकता, विश्व के उस एकमेव गुरु अनेकान्तवाद को प्रणाम करता हूँ।

६६१ द्रव्य गुणो का आश्रय या आधार है। जो एक द्रव्य के आश्रय रहते हैं, वे गुण हैं। पर्यायो का लक्षण द्रव्य या गुण दोनो के आश्रित रहना है।

६६२ पर्याय के विना द्रव्य नहीं और द्रव्य के विना पर्याय नही। उत्पाद, स्थिति (ध्रुवता) और व्यय (नाश) द्रव्य का लक्षण है। अर्थात् द्रव्य उसे कहते हैं जिसमें प्रति समय उत्पाद आदि तीनो घटित होते रहते हैं।

६६३ उत्पाद व्यय के विना नहीं होता और व्यय उत्पाद के विना नही होता। इसी प्रकार उत्पाद और व्यय दोनो त्रिकाल-स्थायी ध्रौव्यअर्थ (आधार) के विना नही होते।

६६४ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य (उत्पत्ति, विनाश और स्थिति) ये तीनो द्रव्य में नही होते, अपितु द्रव्य की नित्य परिवर्तनशील पर्यायो में होते हैं। परन्तु पर्यायो का समूह द्रव्य है, अत सब द्रव्य ही है।

६६५ द्रव्य एक ही समय में उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य नामक अर्थो के साथ समवेत—एकमेक है। इसलिए ये तीनो वास्तव में द्रव्य हैं।

६६६ पाडुब्भवदि य अन्नो, पज्जाओ पज्जाओ वयदि अन्नो ।
दव्वस्स त पि दव्व, णेव पणट्ठ णेव उप्पन्न ॥७॥
प्रादुर्भवति चान्य, पर्याय पर्यायो व्ययते अन्य ।
द्रव्यस्य तदपि द्रव्य, नैव प्रनष्ट नैव उत्पन्नम् ॥७॥

६६७ पुरिसम्मि पुरिससद्दो, जम्माई-मरणकालपज्जन्तो ।
तस्स उ बालाईया, पज्जवजोया बहुवियप्पा ॥८॥
पुरुषे पुरुषशब्दो, जन्मादि-मरणकालपर्यन्त ।
तस्य तु बालादिका, पर्यययोग्या बहुविकल्पा ॥८॥

६६८ तम्हा वत्थूण चिय, जो सरिसो पज्जवो स सामन्न ।
जो विसरिसो विसेसो, य मओऽणत्थतर तत्तो ॥९॥
तस्माद् वस्तूनामेव, य सदृश पर्यव स सामान्यम् ।
यो विसदृशो विशेष, स मतोऽनर्थान्तर तत ॥९॥

६६९ सामन्न अह विसेसे, दव्वे णाण हवेइ अविरोहो ।
साहइ त सम्मत्त, णहु पुण त तस्स विवरीय ॥१०॥
सामान्यमथ विशेष, द्रव्ये ज्ञान भवत्यविरोध ।
साधयति तत्सम्यक्त्व, नहि पुनस्तत्तस्य विपरीतम् ॥१०॥

६७० पिउ पुत्त-णत्तु-भव्वय-भाऊण एगपुरिससबधो ।
ण य सो एगस्स पिय, त्ति सेसयाण पिया होइ ॥११॥
पितृ-पुत्र-नातृ-भव्यक भ्रातृणाम एक पुरुषसम्बन्ध ।
न च स एकस्य पिता इति शेषकाणा पिता भवति ॥११॥

६७१ सवियप्प णिवियप्प इय, पुरिस जो भणेज्ज अवियप्प ।
सवियप्पमेव वा णिच्छएण, ण स निच्छओ समए ॥१२॥
सविकल्प निर्विकल्पम् इति पुरुष यो भणेद् अविकल्पम् ।
सविकल्पमेव वा निश्चयेन न स निश्चित समये ॥१२॥

६७२ अन्नोन्नाणुगयाण, 'इम च त च' त्ति विभयणमजुत्त ।
जह दुद्ध-पाणियाण, जावन्त विसेसपज्जाया ॥१३॥
अन्योन्यानुगतया 'इद वा तद् वा' इति विभजनमयुक्तम ।
यथा दुग्ध पानीययो यावन्त विशेषपर्याया ॥१३॥

६६६ द्रव्य की अन्य (उत्तरवर्ती) पर्याय उत्पन्न (प्रकट) होती है और कोई अन्य (पूर्ववर्ती) पर्याय नष्ट (अदृश्य) हो जाती है। फिर भी द्रव्य न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है— द्रव्य के रूप में सदा ध्रुव (नित्य) रहता है।

६६७ पुरुष में पुरुष शब्द का व्यवहार जन्म से लेकर मरण तक होता है। परन्तु इसी बीच बचपन-बुढापा आदि अनेक प्रकार की पर्यायें उत्पन्न हो-होकर नष्ट होती जाती है।

६६८ (अत) वस्तुओ की जो सदृश पर्याय है—दीर्घकाल तक बनी रहनेवाली समान पर्याय है, वही सामान्य है और उनकी जो विसदृश पर्याय है वह विशेष है। ये दोनो सामान्य तथा विशेष पर्यायें उस वस्तु से अभिन्न (कथचित) मानी गयी है।

६६९ सामान्य तथा विशेष इन दोनो धर्मों से युक्त द्रव्य मे होनेवाला विरोध-रहित ज्ञान ही सम्यक्त्व का साधक होता है। उससे विपरीत अर्थात् विरोधयुक्त ज्ञान साधक नही होता।

६७० एक ही पुरुष मे पिता, पुत्र, पौत्र, भानेज, भाई आदि अनेक सम्बन्ध होते है। (एक ही समय में वह अपने पिता का पुत्र और अपने पुत्र का पिता होता है। अत एक का पिता होने से वह सबका पिता नही होता। यही स्थिति सब वस्तुओ की है।)

६७१ निर्विकल्प तथा सविकल्प उभयरूप पुरुष को जो केवल निर्विकल्प अथवा सविकल्प (एक ही) कहता है, उसकी मति निश्चय ही शास्त्र में स्थिर नहीं है।

६७२ दूध और पानी की तरह अनेक विरोधी धर्मों द्वारा परस्पर घुले-मिले पदार्थ म 'यह धर्म' और 'वह धर्म' का विभाग करना उचित नही है। जितनी विशेष पर्यायें हो, उतना ही अविभाग समझना चाहिए।

६७३ सकेज्ज याऽसकितभाव भिक्खू, विभज्जवाय च वियागरेज्जा ।
भासादुग धम्मसमुट्ठितेहि, वियागरेज्जा समया सुपन्ने ॥१४॥
शङ्कित चाऽशङ्कितभावो भिक्षु विभज्यवाद च व्यागृणीयात् ।
भाषाद्विक च सम्यक् समुत्थिते व्यागृणीयात समतया सुप्रज्ञ ॥१४॥

३८ प्रमाणसूत्र

(अ) पञ्चविध ज्ञान

६७४ ससयविमोह विब्भय विवज्जिय अप्पपरसरूवस्स ।
गहण सम्म णाण, सायारमणेयभेय तु ॥१॥
सशयविमोह विभ्रमविवर्जितमात्म-परस्वरूपस्य ।
ग्रहण सम्यग्ज्ञान, साकारमनेकभेद तु ॥१॥

६७५ तत्थ पचविह नाण, सुय आभिनिबोहिय ।
ओहिनाण तु तइय, मणनाण च केवल ॥२॥
तत्र पञ्चविध ज्ञान, श्रुतमाभिनिबोधिकम् ।
अवधिज्ञान तु तृतीय, मनोज्ञान च केवलम् ॥२॥

६७६ पचेव होंति णाणा, मदिसुदओहीमण च केवलय ।
खयउवसमिया चउरो, केवलणाण हवे खइय ॥३॥
पञ्चैव भवन्ति ज्ञानानि, मतिश्रुतावधिमनश्च केवलम् ।
क्षायोपशमिकानि चत्वारि, केवलज्ञान भवेत् क्षायिकम् ॥३॥

६७७ ईहा अपोह वीमसा, मग्गणा य गवेसणा ।
सण्णा सती मती पण्णा, सव्व आभिणिबोधिय ॥४॥
ईहा अपोह विमर्श मार्गणा च गवेषणा ।
सज्ञा स्मृति मति प्रज्ञा सर्वम् आभिनिबोधिकम् ॥४॥

६७८ अत्थाओ अत्थतर-मुवलभे त भणति सुयणाण ।
आभिणिबोहियपुव्व, णियमेण य सद्दय मूल ॥५॥
अर्थादर्थान्तर-मुपलम्भ त भणन्ति श्रुतज्ञानम् ।
आभिनिबोधिकपूर्व, नियमेन च शब्दज मूलम् ॥५॥

६७३ सूत्र और अर्थ के विषय में शंकारहित साधु भी गर्वरहित होकर स्याद्वादमय वचन का व्यवहार करे। धर्माचरण में प्रवृत्त साधुओं के साथ विचरण करते हुए सत्यभाषा तथा अनुभय (जो न सत्य हो और न असत्य) भाषा का व्यवहार करे। धनी या निर्धन का भेद न करके समभावपूर्वक धर्म-कथा कहे।

३८ प्रमाणसूत्र

(अ) पंचविध ज्ञान

६७४ संशय, विमोह (विपर्यय) और विभ्रम (अनध्यवसाय) इन तीन मिथ्याज्ञानों से रहित अपने और पर के स्वरूप का ग्रहण करना सम्यग्ज्ञान है। यह वस्तुस्वरूप का यथार्थ निश्चय कराता है, अतएव इसे साकार अर्थात् सविकल्पक (निश्चयात्मक) कहा गया है। इसके अनेक भेद हैं।

६७५ वह ज्ञान पाँच प्रकार का है—आभिनिबोधिक या मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान।

६७६ इस प्रकार मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल के रूप में ज्ञान केवल पाँच ही हैं। इनमें से प्रथम चार ज्ञान क्षायोपशमिक हैं, और केवलज्ञान क्षायिक है। (एकदेश क्षय व उपशम से उत्पन्न होने के कारण चार ज्ञान अपूर्ण हैं और समस्त कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने के कारण पाँचवाँ केवलज्ञान परिपूर्ण है।)

६७७ ईहा, अपोह, मीमांसा, मार्गणा, गवेषणा, संज्ञा, स्मृति, मति और प्रज्ञा—ये सब आभिनिबोधिक या मतिज्ञान हैं।

६७८ (अनुमान या लिंगज्ञान की भाँति) अर्थ (शब्द) को जानकर उस पर से अर्थांतर (वाच्यार्थ) को ग्रहण करना श्रुतज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान नियमतः आभिनिबोधिक ज्ञानपूर्वक होता है। इसके दो भेद हैं—लिंगजन्य और शब्दजन्य। (धुआँ देखकर होनेवाला अग्नि का ज्ञान लिंगज है और वाचक-शब्द सुनकर या पढ़कर होनेवाला ज्ञान शब्दज है।) आगम में शब्दज श्रुतज्ञान का प्राधान्य है।

(आ) प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाण

६८५ गेहणइ वत्युसहाव, अविरुद्ध सम्मरूव ज णाण ।
भणिय खु त पमाण, पच्चक्खपरोक्खभेएहिं ॥१२॥
गह्णाति वस्तुस्वभावम्, अविरुद्ध सम्यग्रूप यज्ज्ञानम् ।
भणिते खलु तत् प्रमाण, प्रत्यक्षपरोक्षभेदाभ्याम् ॥१२॥

६८६ जीवो अक्खो अत्यव्ववण - भोयणगुणन्निओ जेण ।
त पइ वट्टइ नाण, जे पच्चक्ख तय तिविह ॥१३॥
जीव अक्ष अथव्यापन - भोजनगणान्वितो येन ।
त प्रति वतते ज्ञान, यत् प्रत्यक्ष तत् त्रिविधम् ॥१३॥

६८७ अक्खस्स पोग्गलकया, ज दव्विन्दियमणा परा तेण ।
तेहिं तो ज नाण, परोक्खमिह तमणुमाण व ॥१४॥
अक्षस्य पुद्गलकृतानि यत्, द्रव्येन्द्रियमनासि पराणि तेन ।
तैस्तस्माद् यज्ज्ञान, परोक्षमिह तदनुमानमिव ॥१४॥

६८८ होंति परोक्खाइ मइ-सुयाइ जीवस्स परनिमित्ताओ ।
पुव्वोवलद्धसबध-सरणाओ वाणुमाण व ॥१५॥
भवत परोक्षे मति-श्रुते जीवस्य परनिमित्तात ।
पूर्वोपलब्धसम्बध-स्मरणाद् वाऽनुमानमिव ॥१५॥

६८९ एगतेण परोक्ख, लिंगियमोहाइय च पच्चक्ख ।
इदियमणोभव ज, त सववहारपच्चक्ख ॥१६॥
एकातेन परोक्ष, लैङ्गिकमवध्यादिक च प्रत्यक्षम् ।
इन्द्रियमनोभव यत, तत सव्यवहारप्रत्यक्षम् ॥१६॥

३९ नयसूत्र

६९० ज णाणीण वियप्प, सुयभेय वत्थुअससगहण ।
त इह णय पउत्त, णाणी पुण तेण णाणेण ॥१॥
यो ज्ञानिना विकल्प, श्रुतभेदो वस्त्वशसग्रहणम् ।
स इह नय प्रयुक्त, ज्ञानी पुनस्तेन ज्ञानेन ॥१॥

(आ) प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाण

६८५ जो ज्ञान वस्तु-स्वभाव को—यथार्थस्वरूप को—सम्यक्रूप से जानता है, उसे प्रमाण कहते है। इसके दो भेद है—प्रत्यक्ष-प्रमाण और परोक्षप्रमाण।

६८६ जीव को 'अक्ष' कहते है। यह शब्द 'अशु व्याप्तौ' धातु से बना है। जो ज्ञानरूप में समस्त पदार्थों मे व्याप्त है, वह अक्ष अर्थात् जीव है। 'अक्ष' शब्द की व्युत्पत्ति भोजन के अर्थ में 'अश्' धातु से भी की जा सकती है। जो तीनो लोक की समस्त समृद्धि आदि को भोगता है वह अक्ष अर्थात् जीव है। इस तरह दोनो व्युत्पत्तियो से (अर्थव्यापन व भोजनगुण से) जीव का अक्ष अर्थ सिद्ध होता है। उस अक्ष से होनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। इसके तीन भेद है—अवधि, मनःपर्यय और केवल।

६८७ पौद्गलिक होने के कारण द्रव्येन्द्रियाँ और मन 'अक्ष' अर्थात् जीव से 'पर' (भिन्न) है। अतः उनसे होनेवाला ज्ञान परोक्ष कहलाता है। जैसे अनुमान मे धूम से अग्नि का ज्ञान होता है, वैसे ही परोक्षज्ञान भी 'पर' के निमित्त से होता है।

६८८ जीव के मति और श्रुत-ज्ञान परनिमित्तक होने के कारण परोक्ष है। अथवा अनुमान की तरह पहले से उपलब्ध अर्थ के स्मरण द्वारा होने के कारण भी वे परनिमित्तक है। (परनिमित्तक अर्थात् मन और इन्द्रियों की सहायता से होनेवाला ज्ञान)।

६८९ धूम आदि लिंग से होनेवाला श्रुतज्ञान तो एकान्तरूप से परोक्ष ही है। अवधि, मनःपर्यय और केवल ये तीनो ज्ञान एकान्तरूप से प्रत्यक्ष ही है। किन्तु इन्द्रिय और मन से होनेवाला मतिज्ञान लोकव्यवहार मे प्रत्यक्ष माना जाता है। इसलिए वह साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहलाता है।

३९ नयसूत्र

६९० श्रुतज्ञान के आश्रय से युक्त वस्तु के अंश को ग्रहण करनेवाले ज्ञानी के विकल्प को 'नय' कहते है। उस ज्ञान से जो युक्त है वही ज्ञानी है।

६९१ जम्हा ण णएण विणा, होइ णरस्स सियवायपडिवत्ती ।
तम्हा सो बोहव्वो, एयंत हंतुकामेण ॥२॥
यस्मान्न नयेन विना, भवति नरस्य स्याद्वादप्रतिपत्तिः ।
तस्मात्स बोद्धव्य, एकान्त हन्तुकामेन ॥२॥

६९२ धम्मविहीणो सोक्खं, तण्हाछेयं जलेण जह रहिदो ।
तह इह वंछइ मूढो, णयरहिओ दव्वणिच्छित्ती ॥३॥
धर्मविहीन सौख्य, तृष्णाच्छेद जलेन यथा रहित ।
तथेह वाञ्छति मूढो, नयरहितो द्रव्यनिश्चिती ॥३॥

६९३ तित्थयरवयणसंगह विसेसपत्थार-मूलवागरणी ।
दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ, य सेसा वियप्पा सिं ॥४॥
तीर्थकरवचनसंग्रहविशेषप्रस्तार - मूलव्याकरणी ।
द्रव्यार्थिकश्च पर्यवनयश्च, शेषा विकल्पा एतेषाम ॥४॥

६९४ दव्वट्ठियवत्तव्वं, अवत्थु णियमेण पज्जवणयस्स ।
तह पज्जववत्थु, अवत्थुमेव दव्वट्ठियनयस्स ॥५॥
द्रव्यार्थिकवक्तव्य - मवस्तु नियमेन पर्यवनयस्य ।
तथा पर्यववस्तु, अवस्तु एव द्रव्यार्थिकनयस्य ॥५॥

६९५ उप्पज्जंति वियंति य, भावा नियमेण पज्जवनयस्स ।
दव्वट्ठियस्स सव्वं, सया अणुप्पन्नमविणट्ठं ॥६॥
उत्पद्यन्ते व्ययन्ति च, भावा नियमेन पर्यवनयस्य ।
द्रव्यार्थिकस्य सर्व, सदानुत्पन्नमविनष्टम् ॥६॥

६९६ दव्वट्ठिएण सव्वं, दव्वं तं पज्जयट्ठिएण पुणो ।
हवदि य अन्नमणन्नं, तक्काले तम्मयत्तादो ॥७॥
द्रव्यार्थिकेन सर्व, द्रव्य तत्पर्यायार्थिकेन पुन ।
भवति चान्यद् अनन्यत्-तत्काले तन्मयत्वात् ॥७॥

६९७ पज्जय गउणं किच्चा, दव्वं पि य जो हु गिण्हइ लोए ।
सो दव्वत्थिय भणिओ, विवरीओ पज्जयत्थिणओ ॥८॥
पर्याय गौण कृत्वा, द्रव्यमपि च यो हि गृह्णाति लोके ।
स द्रव्यार्थिको भणितो, विपरीत पर्ययार्थिनय ॥८॥

६९१ नय के बिना मनुष्य को स्याद्वाद का बोध नही होता । अत जो एकान्त का या एकान्त आग्रह का परिहार करना चाहता है, उसे नय को अवश्य जानना चाहिए ।

६९२ जैसे धर्मविहीन मनुष्य सुख चाहता है या कोई जल के बिना अपनी प्यास बुझाना चाहता है, वैसे ही मूढजन नय के बिना द्रव्य के स्वरूप का निश्चय करना चाहता है ।

६९३ तीर्थंकरो के वचन दो प्रकार के ह—सामान्य और विशेष । दोनो प्रकार के वचनो की राशियो के (सग्रह के) मूल प्रतिपादक नय भी दो ही ह—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक । शेष सब नय इन दोनो के ही अवान्तर भेद है । (द्रव्यार्थिक नय वस्तु के सामान्य अश का प्रतिपादक है और पर्यायार्थिक विशेषाश का ।)

६९४ द्रव्यार्थिक नय का वक्तव्य (सामान्याश) पर्यायार्थिक नय के लिए नियमत अवस्तु है और पर्यायार्थिक नय की विषयभूत वस्तु (विशेषाश) द्रव्यार्थिक नय के लिए अवस्तु है ।

६९५ पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से पदार्थ नियमत उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं । और द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से सकल पदार्थ सदैव अनुत्पन्न और अविनाशी होते हैं ।

६९६ द्रव्यार्थिक नय से सभी द्रव्य है और पर्यायार्थिक नय से वह अन्य-अन्य है, क्योकि जिस समय में जिस नय से वस्तु को देखते है, उस समय वह वस्तु उसी रूप मे दृष्टिगोचर होती है ।

६९७ जो ज्ञान पर्याय को गौण करके लोक में द्रव्य का ही ग्रहण करता है, उसे द्रव्यार्थिक नय कहा गया है । और जो द्रव्य को गौण करके पर्याय का ही ग्रहण करता है, उसे पर्यायार्थिक नय कहा गया है ।

७०४ अवरोप्परमविरोहे, सव्व अत्थि त्ति सुद्धसगहणे ।
होइ तमेव असुद्ध, इगजाइविसेसगहणेण ॥१५॥
परस्परमविरोधे, सवमस्तीति शुद्धसङ्ग्रहणम् ।
भवति स एवाशुद्ध, एकजातिविशेषग्रहणेन ॥१५॥

७०५ ज सगहेण गहिय, भेयइ अत्थ असुद्ध सुद्ध वा ।
सो ववहारो दुविहो, असुद्धसुद्धत्थभेयकरो ॥१६॥
य सग्रहेण गहीत, भिनत्ति अर्थ अशुद्ध शुद्ध वा ।
स व्यवहारो द्विविधोऽशुद्धशुद्धार्थभेदकर ॥१६॥

७०६ जो एयसमयवट्टी, गिहणइ दव्वे धुवत्तपज्जाय ।
सो रिउसुत्तो सुहुमो, सव्व पि सद्द जहा खणिय ॥१७॥
य एकसमयवर्तिन, गृह्णाति द्रव्ये ध्रुवत्वपर्यायम् ।
स ऋजुसूत्र सूक्ष्म, सर्वोऽपि शब्द यथा क्षणिक ॥१७॥

७०७ मणुयाइयपज्जाओ, मणुसो त्ति सगट्ठिदीसु वट्टतो ।
जो भणइ तावकाल, सो थूलो होइ रिउसुत्तो ॥१८॥
मनुजादिकपर्यायो, मनुष्य इति स्वकस्थितिषु वर्तमान ।
य भणति तावत्काल, स स्थूलो भवति ऋजुसूत्र ॥१८॥

७०८ सवण सपइ स तेण, व सप्पए वत्थु ज तओ सद्दो ।
तस्सत्थपरिग्गहओ, नओ वि सद्दो त्ति हेउ व्व ॥१९॥
शपन शपति स तेन वा शप्यते वस्तु यत् तत शब्द ।
तस्यार्थपरिग्रहता, नयोऽपि शब्द इति हेतुरिव ॥१९॥

७०९ जो वट्टण ण मण्णइ, एयत्थे भिन्नलिंगआईण ।
सो सद्दणओ भणिओ, णेओ पुस्साइआण जहा ॥२०॥
यो वर्तन च मन्यते, एकार्थे भिन्नलिङ्गादीनाम् ।
स शब्दनयो भणित, ज्ञेय पुष्यादीना यथा ॥२०॥

७१० अहवा सिद्धे सद्दे, कीरइ ज कि पि अत्थववहरण ।
त खलु सद्दे विसय, 'देवो' सद्देण जह देवो ॥२१॥
अथवा सिद्धे शब्दे, करोति यत् किमपि अर्थव्यवहरणम ।
तत खलु शब्दस्य विषय, 'देव' शब्देन यथा देव ॥२१॥

७०४ सग्रहनय के दो भेद ह—गुद्धसग्रहनय और अशुद्धसग्रहनय। शुद्धसग्रहनय मे परस्पर म विरोध न करके सत्‌रूप से सबका ग्रहण होता ह। उसमे से एक जातिविशेष को ग्रहण करने से वही अशुद्धसग्रहनय होता है।

७०५ जो सग्रहनयके द्वारा गृहीत शुद्ध अथवा अशुद्ध अथ का भेद करता है वह व्यवहारनय है। यह भी दो प्रकार का है—एक अशुद्धाथ-भेदक और दूसरा शुद्धाथ-भेदक।

७०६ जो द्रव्य मे एकसमयवर्ती (वतमान) अध्रुव पर्याय को ग्रहण करता है उसे सूक्ष्मऋजुसूत्रनय कहते ह। जैसे सब सत्‌क्षणिक है।

७०७ और जो अपनी स्थितिपर्यन्त रहनेवाली मनुष्यादि पर्याय को उतने समय तक एक मनुष्यरूप मे ग्रहण करता है, वह स्थूल-ऋजुसूत्रनय है।

७०८ शपन अर्थात् आह्वान शब्द है, अथवा जो 'शपति' अर्थात् आह्वान करता है वह शब्द है। अथवा 'शप्यते' जिसके द्वारा वस्तु को कहा जाता है वह शब्द है। उस शब्द का वाच्य जो अथ है, उसको ग्रहण करने से नय को भी शब्द कहा गया है।

७०९ जो एकार्थवाची शब्दो म लिंग आदि के भेद से अर्थभेद मानता है उसे शब्दनय कहा गया है। जैसे पुष्य शब्द पुंलिंग म नक्षत्र का वाचक है और पुष्या स्त्रीलिंग तारिका का बोध कराती है।

७१० अथवा व्याकरण से सिद्ध शब्द मे अथ का जो व्यवहार किया जाता है, उसी अथ को उस शब्द के द्वारा ग्रहण करना शब्दनय है। जैसे देव शब्द के द्वारा उसका सुप्रसिद्ध अथ देव अर्थात सुर ही ग्रहण करना।

७११ सद्दारूढो अत्थो, अत्थारूढो तहेव पुण सद्दो ।
भणइ इह समभिरूढो, जह इंद पुरंदरो सक्को ॥२२॥
शब्दारूढोऽर्थोऽर्थारूढस्तथैव पुनः शब्दः ।
भणति इह समभिरूढो, यथा इन्द्रः पुरन्दरः शक्रः ॥२२॥

७१२ एवं जह सद्दत्थो, संतो भूओ तदन्नहाऽभूओ ।
तेणेवंभूयनओ, सद्दत्थपरो विसेसेण ॥२३॥
एवं यथा शब्दार्थः सन् भूतस्तदन्यथाऽभूतः ।
तेनैवंभूतनयः, शब्दार्थपरो विशेषेण ॥२३॥

७१३ जं जं करेइ कम्मं, देही मणवयणकायचेट्ठादो ।
तं तं खु णामजुत्तो, एवंभूओ हवे स णओ ॥२४॥
यद् यद् कुरुते कर्म, देही मनोवचनकायचेष्टातः ।
तत् तत् खलु नामयुक्तः, एवंभूतो भवेत् स नयः ॥२४॥

४० स्याद्वाद व सप्तभङ्गीसूत्र

७१४ अवरोप्परसावेक्खं, णयविसयं अह पमाणविसयं वा ।
तं सावेक्खं भणियं, णिरवेक्खं ताण विवरीयं ॥१॥
परस्परसापेक्षो, नयविषयोऽथ प्रमाणविषयो वा ।
तत् सापेक्षं भणितं निरपेक्षं तयोर्विपरीतम् ॥१॥

७१५ णियमणिसेहणसीलो, णिपादणादो य जो हु खलु सिद्धो ।
सो सियसद्दो भणिओ, जो सावेक्खं पसाहेदि ॥२॥
नियमनिषेधनशीलो, निपातनाच्च यः खलु सिद्धः ।
स स्याच्छब्दो भणितः, यः सापेक्षं प्रसाधयति ॥२॥

७११ जिस प्रकार प्रत्येक पदार्थ अपने वाचक अर्थ मे आरूढ है, उसी प्रकार प्रत्येक शब्द भी अपने-अपने अर्थ मे आरूढ है। अर्थात् शब्दभेद के साथ अर्थभेद होता ही है। जैसे इन्द्र, पुरन्दर और शक्र—तीनो शब्द देवो के राजा के बोधक है, तथापि इन्द्र शब्द से उसके ऐश्वर्य का बोध होता है, पुरन्दर से अपने शत्रु के पुरो का नाश करनेवाले का बोध होता है। इस प्रकार शब्द-भेदानुसार अर्थभेद करनेवाला 'समभिरूढनय' है। (यह शब्द को अर्थारूढ और अर्थ को शब्दारूढ कहता है।)

७१२ एव अर्थात् जैसा शब्दार्थ हो उसी रूप मे जो व्यवहृत होता है वह भूत अर्थात् विद्यमान है। और जो शब्दार्थ से अन्यथा है वह अभूत अर्थात् अविद्यमान है। जो ऐसा मानता है वह 'एवभूतनय' है। इसीलिए शब्दनय और समभिरूढनय की अपेक्षा एवभूतनय विशेषरूप से शब्दार्थतत्पर नय है।

७१३ जीव अपने मन, वचन व काय की क्रिया द्वारा जो-जो काम करता है, उस प्रत्येक कर्म का बोधक अलग-अलग शब्द है और उसीका उस समय प्रयोग करनेवाला एवभूतनय है। जैसे मनुष्य को पूजा करते समय ही पुजारी और युद्ध करते समय ही योद्धा कहना।

४० स्याद्वाद-सप्तभगीसूत्र

७१४ नय का विषय हो या प्रमाण का, परस्पर सापेक्ष विषय का ही सापेक्ष कहा जाता है और इससे विपरीत को निरपेक्ष कहा जाता है। (अर्थात् प्रमाण का विषय सब नयो की अपेक्षा रखता है और नय का विषय प्रमाण की तथा अन्य विरोधी नयो की अपेक्षा रखता है, तभी वह विषय सापेक्ष कहलाता है।)

७१५ जो सदा नियम का निषेध करता है और निपात रूप से सिद्ध है, उस शब्द को 'स्यात्' कहा गया है। यह वस्तु को सापेक्ष सिद्ध करता है।

७१६ सत्तेव हुंति भंगा, पमाणणयदुणयभेदजुत्ता वि ।
सिय सावेक्ख पमाणं, णएण णय दुणय णिरवेक्खा ॥३॥
सप्तैव भवन्ति भङ्गाः, प्रमाणनयदुर्नयभेदयुक्ता अपि ।
स्यात् सापेक्षं प्रमाणं नयेन नया दुर्नया निरपेक्षाः ॥३॥

७१७ अत्थि त्ति णत्थि दो वि य, अव्वत्तव्वं सिएण संजुत्तं ।
अव्वत्तव्वा ते तह, पमाणभंगी सुणायव्वा ॥४॥
अस्तीति नास्ति द्वावपि, च अवक्तव्यं स्याता संयुक्तम् ।
अवक्तव्यास्ते तथा, प्रमाणभङ्गी सुज्ञातव्या ॥४॥

७१८ अत्थिसहावं दव्वं, सद्दव्वादीसु गाहियणएण ।
तं पि य णत्थिसहावं, परदव्वादीहि गहिएण ॥५॥
अस्तिस्वभावं द्रव्यं, स्वद्रव्यादिषु ग्राहकनयेन ।
तदपि च नास्तिस्वभावं, परद्रव्यादिभिर्गृहीतेन ॥५॥

७१९ उहयं उहयणएण, अव्वत्तव्वं च तेण समुदाए ।
ते तिय अव्वत्तव्वा, णियणियणयअत्थसंजोए ॥६॥
उभयमुभयनयेना-वक्तव्यं च तेन समुदाये ।
ते त्रिका अवक्तव्या, निजनिजनयार्थसंयोगे ॥६॥

७२० अत्थि त्ति णत्थि उहयं, अव्वत्तव्वं तहेव पुण तिदयं ।
तह सिय णयणिरवेक्खं, जाणसु दव्वे दुणयभंगी ॥७॥
अस्तीति नास्त्युभयम् अवक्तव्यं तथैव पुनस्त्रितयम् ।
तथा स्यात् नयनिरपेक्षं जानीहि द्रव्ये दुर्नयभङ्गी ॥७॥

७२१ एकणिरुद्धे इयरो, पडिवक्खो अवरे य सब्भावो ।
सव्वेसिं स सहावे, कायव्वा होइ तह भंगा ॥८॥
एकनिरुद्धे इतरः, प्रतिपक्षो अपरश्च स्वभावः ।
सर्वेषां स स्वभावे कर्तव्या भवन्ति तथा भङ्गाः ॥८॥

७१६ (अनेकान्तात्मक वस्तु की सापेक्षता के प्रतिपादन मे प्रत्येक वाक्य के साथ 'स्यात्' लगाकर कथन करना स्याद्वाद का लक्षण है।) इस न्याय म प्रमाण, नय और दुर्नय के भेद से युक्त सात भग होते ह। 'स्यात'—सापेक्ष भगा को प्रमाण कहते ह। नय युक्त भगा को नय कहते ह और निरपेक्ष भगा को दुनय।

७१७ स्यात अस्ति, स्यात्नास्ति, स्यात् अस्ति-नास्ति, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् अस्ति-अवक्तव्य, स्यात् नास्ति-अवक्तव्य, स्यात् अस्ति नास्ति-अव्यक्तव्य—इन्हे प्रमाण सप्तभगी जानना चाहिए।

७१८ स्व-द्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्व-काल और स्व भाव की अपेक्षा द्रव्य अस्तिस्वरूप है। वही पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल और पर-भाव की अपेक्षा नास्तिस्वरूप है।

७१९ स्व-द्रव्यादि चतुष्टय और पर-द्रव्यादि चतुष्टय दोना की अपेक्षा लगाने पर एक ही वस्तु स्यात्-अस्ति और स्यात्-नास्ति स्वरूप होती है। दोना धर्मो को एक साथ कहने की अपेक्षा से वस्तु अवक्तव्य है। इसी प्रकार अपने-अपने नय के साथ अथ की योजना करने पर अस्ति-अवक्तव्य, नास्ति अवक्तव्य और अस्ति-नास्ति अवक्तव्य है।

७२० स्यात् पद तथा नय निरपेक्ष होने पर यही साता भग दुनय-भगी कहलाते ह। जैसे वस्तु अस्ति ही है, नास्ति ही है, उभयरूप ही है, अवक्तव्य ही है, अस्ति-अवक्तव्य ही है, नास्ति-अवक्तव्य ही है या अस्ति-नास्ति अवक्तव्य ही है। (किसी एक ही पहलू या दृष्टिकोण पर जार देना या आग्रह रखना तथा दूसरे की सवथा उपेक्षा करना दुनय है।)

७२१ वस्तु मे एक धर्म का ग्रहण करने पर उसके प्रतिपक्षी दूसरे धम का भी ग्रहण अपने आप हो जाता है, क्योकि दोना ही धम वस्तु के स्वभाव ह। अत सभी वस्तु धर्मो म सप्त-भगी की योजना करना चाहिए।

४१ समन्वयसूत्र

७२२ सव्वं पि अणेयंतं, परोक्खरूवेण जं पयासेदि ।
तं सुयणाणं भण्णदि, संसय-पहुदीहि परिचत्तं ॥१॥
सर्वमपि अनेकान्तं, परोक्षरूपेण यत् प्रकाशयति ।
तत् श्रुतज्ञानं भण्यते, संशयप्रभृतिभिः परित्यक्तम् ॥१॥

७२३ लोयाणं ववहारं, धम्म विवक्खाइ जो पसाहेदि ।
सुयणाणस्स वियप्पो, सो वि णओ लिंगसंभूदो ॥२॥
लोकानां व्यवहारं, धर्मविवक्षया यः प्रसाधयति ।
श्रुतज्ञानस्य विकल्पः, स अपि नयः लिङ्गसम्भूतः ॥२॥

७२४ णाणाधम्मजुदं पि य, एयं धम्मं पि वुच्चदे अत्थं ।
तस्सेयविवक्खादो, णत्थि विवक्खा हु सेसाणं ॥३॥
नानाधर्मयुतः अपि च एकः धर्मः अपि उच्यते अर्थः ।
तस्य एकविवक्षातः, नास्ति विवक्षा खलु शेषाणाम् ॥३॥

७२५ ते सावेक्खा सुणया, णिरवेक्खा ते वि दुण्णया होंति ।
सयल ववहार-सिद्धी, सुणयादो होदि णियमेण ॥४॥
ते सापेक्षा सुनयाः, निरपेक्षाः ते अपि दुर्नयाः भवन्ति ।
सकलव्यवहारसिद्धिः, सुनयात् भवति नियमेन ॥४॥

७२६ जावंतो वयणपधा, तावंतो वा नया 'वि' सद्दाओ ।
ते चेव य परसमया, सम्मत्तं समुदिया सव्वे ॥५॥
यावन्तो वचनपथास्तावन्तो वा नया 'अपि'शब्दात् ।
त एव च परसमयाः, सम्यक्त्वं समुदिताः सर्वे ॥५॥

७२७ परसमएगनयमयं, तप्पडिवक्खनयओ निवत्तेज्जा ।
समए व परिग्गहियं, परेण जं दोसबुद्धीए ॥६॥
परसमयैकनयमतं, तत्प्रतिपक्षनयतः निवर्तयेत ।
समये वा परिगृहीतं, परेण यद् दोषबुद्ध्या ॥६॥

४१ समन्वयसूत्र

७२२ जो परोक्षरूप से समस्त वस्तुओं का अनेकान्तरूप दर्शाता है और संशय आदि से रहित है वह ज्ञान श्रुतज्ञान है।

७२३ जो वस्तु के किसी एक धर्म की विवक्षा या अपेक्षा से लोक-व्यवहार को साधता है वह नय है। नय श्रुतज्ञान का भेद है और लिंग से उत्पन्न होता है।

७२४ अनेक धर्मों से युक्त वस्तु के किसी एक धर्म को ग्रहण करना नय का लक्षण है। क्योंकि उस समय उसी धर्म की विवक्षा है, शेष धर्मों की विवक्षा नहीं है।

७२५ वे नय (विरोधी होने पर भी) सापेक्ष हों तो सुनय कहलाते हैं और निरपेक्ष हों तो दुर्नय। सुनय से ही नियमपूर्वक समस्त व्यवहारों की सिद्धि होती है।

७२६ (वास्तव में देखा जाय तो लोक में—) जितने वचन-पन्थ हैं, उतने ही नय हैं, क्योंकि सभी वचन वक्ता के किसी न किसी अभिप्राय या अर्थ को सूचित करते हैं और ऐसे वचनों में वस्तु के किसी एक धर्म की ही मुख्यता होती है। अतः जितने नय सावधारण (हठग्राही) हैं, वे सब पर-समय हैं, मिथ्या हैं, और अवधारणरहित (सापेक्षसत्यग्राही) तथा स्यात् शब्द से युक्त समुदित सभी नय सम्यक् होते हैं।

७२७ नय-विधि के ज्ञाता को पर-समयरूप (एकान्त या आग्रहपूर्ण) अनित्यत्व आदि के प्रतिपादक ऋजुसूत्र आदि नयों के अनुसार लोक में प्रचलित मतों का निवर्तन या परिहार नित्यादि का कथन करनेवाले द्रव्यार्थिक नय से करना चाहिए। तथा स्वसमयरूप जिन सिद्धान्त में भी अज्ञान या द्वेष आदि दोषों से युक्त किसी व्यक्ति ने दोषबुद्धि से कोई निरपेक्ष पक्ष अपना लिया हो तो उसका भी निवर्तन (निवारण) करना चाहिए।

७४० सायार इयर ठवणा, कित्तिम इयरा दु बिंबजा पढमा ।
इयरा इयरा भणिया, ठवणा अरिहो य णायव्वो ॥४॥
साकारेतरा स्थापना, कृत्रिमेतरा हि बिम्बजा प्रथमा ।
इतरा इतरा भणिता, स्थापनार्हन् ज्ञातव्य ॥४॥

७४१–७४२ दव्व खु होइ दुविह, आगम णोआगमेण जह भणिय ।
अरहत-सत्थ जाणो, अणजुत्तो दव्व-अरिहतो ॥५॥
णोआगम पि तिविह, देह णाणिस्स भाविकम्म च ।
णाणिसरीर तिविह, चुद चत्त चाविद चेति ॥६॥
द्रव्य खलु भवति द्विविध, आगमनोआगमाभ्याम् यथा भणितम् ।
अर्हत् शास्त्रज्ञायक अनुपयुक्तो द्रव्यार्हन् ॥५॥
नोआगम अपि त्रिविध, देहो ज्ञानिनो भाविकर्म च ।
ज्ञानिशरीर त्रिविध, च्युत त्यक्त च्यावितम च इति ॥६॥

[illegible] दव्वा ।
[illegible] ॥७॥
[illegible]
[illegible]

७२८ सभी नय अपने-अपने वक्तव्य मे सच्चे है किन्तु यदि दूसरे नयो के वक्तव्य का निराकरण करते है तो मिथ्या है। अनेकान्त-दृष्टि का या शास्त्र का ज्ञाता उन नयो का ऐसा विभाजन नही करता कि 'ये सच्चे है' और 'वे झूठे है'।

७२९ निरपेक्ष नय न तो सामुदायिकता को प्राप्त होते है और न वे समुदायरूप कर देने पर सम्यक् होते है। क्योकि प्रत्येक नय मिथ्या होने से उनका समुदाय तो महामिथ्यारूप होगा। समुदायरूप होने से भी वे वस्तु के गमक नही होते, क्योकि पृथक् पृथक् अवस्था मे भी वे गमक नही है। इसका कारण यह है कि निरपेक्ष होने के कारण वैरी की भाति परस्पर विरोधी है।

७३० जैसे नाना अभिप्रायवाले अनेक सेवक एक राजा, स्वामी या अधिकारी के वश मे रहते है, या आपस में लडने-झगडनेवाले व्यवहारी-जन किसी उदासीन (तटस्थ) व्यक्ति के वशवर्ती होकर मित्रता को प्राप्त हो जाते है, वैसे ही ये सभी परस्पर विरोधी नय स्याद्वाद की शरण में जाकर सम्यक्भाव को प्राप्त हो जाते है। अर्थात् स्याद्वाद की छत्रछाया मे परस्पर विरोध का कारण सावधारणता दूर हो जाती है और वे सब सापेक्षतापूर्वक एकत्र हो जाते है।

७३१ जैसे हाथी के पूँछ, पैर, सूड आदि टटोलकर एक एक अवयव को ही हाथी माननेवाले जन्मांध लोगो का अभिप्राय मिथ्या होता है, वैसे ही अनेक धर्मात्मक वस्तु के एक एक अंग का ग्रहण करके 'हमने पूरी वस्तु जान ली है' ऐसी प्रतिपत्ति करनेवालो का उस वस्तुविषयक ज्ञान मिथ्या होता है।

७३२ तथा जैसे हाथी के समस्त अवयवो के समुदाय को हाथी जानने-वाले चक्षुष्मान् (दृष्टिसम्पन्न) का ज्ञान सम्यक् होता है, वैसे ही समस्त नयो के समुदाय द्वारा वस्तु की समस्त पर्यायो को या उसके धर्मों को जाननेवाले का ज्ञान सम्यक् होता है।

७४० सायार इयर ठवणा, कित्तिम इयरा दु विवजा पढमा ।
इयरा इयरा भणिया, ठवणा अरिहो य णायव्वो ।।४।।
साकारेतरा स्थापना, कृत्रिमेतरा हि बिम्बजा प्रथमा ।
इतरा इतरा भणिता, स्थापनाऽर्हंश्च ज्ञातव्यः ।।४।।

७४१–७४२ दव्व खु होइ दुविह, आगम णोआगमेण जह भणिय ।
अरहत-सत्थ-जाणो, अणजुत्तो दव्व-अरिहतो ।।५।।
णोआगम पि तिविह, देह णाणिस्स भाविकम्म च ।
णाणिसरीर तिविह, चुद चत्त चाविद चेति ।।६।।
द्रव्य खलु भवति द्विविध आगमनोआगमाभ्याम् यथा भणितम ।
अर्हत् शास्त्रज्ञायक -अनुपयुक्तता द्रव्यार्हन् ।।५।।
नोआगम अपि त्रिविध , देहा ज्ञानिना भाविकर्म च ।
ज्ञानिशरीर त्रिविध, च्युत त्यक्त च्यावितम् च इति ।।६।।

७४३–७४४ आगम णोआगमदो, तहेव भावो वि होदि दव्व वा ।
अरहतसत्थजाणो, आगमभावो दु अरहतो ।।७।।
तग्गुणए य परिणदो, णोआगमभाव होइ अरहतो ।
तग्गुणएई झादा, केवलणाणी हु परिणदो भणिओ ।।८।।

७४० जहाँ एक वस्तु का किसी अन्य वस्तु में आरोप किया जाता है वहाँ स्थापना निक्षेप होता है। यह दो प्रकार का है—साकार और निराकार। कृत्रिम और अकृत्रिम अर्हन्त की प्रतिमा साकार स्थापना है तथा किसी अन्य पदार्थ में अर्हन्त की स्थापना करना निराकार स्थापना है।

७४१-७४२ जब वस्तु की वर्तमान अवस्था का उल्लंघन कर उसका भूतकालीन या भावी स्वरूपानुसार व्यवहार किया जाता है, तब उसे द्रव्यनिक्षेप कहते हैं। उसके दो भेद हैं—आगम और नोआगम। अर्हन्तकथित शास्त्र का जानकार जिस समय उस शास्त्र में अपना उपयोग नहीं लगाता उस समय वह आगम द्रव्यनिक्षेप से अर्हन्त है। नोआगम द्रव्यनिक्षेप के तीन भेद हैं—ज्ञायकशरीर, भावी और कर्म। जहाँ वस्तु के ज्ञाता के शरीर को उस वस्तुरूप माना जाय वहाँ ज्ञायक शरीर नोआगम द्रव्यनिक्षेप है। जैसे राजनीतिज्ञ के मृत शरीर को देखकर कहना कि राजनीति मर गयी। ज्ञायकशरीर भी भूत, वर्तमान और भविष्य की अपेक्षा तीन प्रकार का तथा भूतज्ञायक शरीर च्युत, त्यक्त और च्यावित रूप से पुनः तीन प्रकार का होता है। वस्तु को जो स्वरूप भविष्य में प्राप्त होगा उसे वर्तमान में ही वैसा मानना भावी नोआगम द्रव्यनिक्षेप है। जैसे युवराज को राजा मानना तथा किसी व्यक्ति का कर्म जैसा हो अथवा वस्तु के विषय में लौकिक मान्यता जैसी हो गयी हो उसके अनुसार ग्रहण करना कर्म या तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यनिक्षेप है। जैसे जिस व्यक्ति में दर्शनविशुद्धि, विनय आदि तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध करानेवाले लक्षण दिखायी दें उसे तीर्थंकर ही कहना अथवा पूर्णकलश, दर्पण आदि पदार्थों को लोक-मान्यतानुसार मांगलिक कहना।

७५० णाणं सरणं मे, दंसणं च सरणं च चरिय सरणं च ।
तव संजमं च सरणं, भगवं सरणो महावीरो ॥१॥
ज्ञानं शरणं मम दर्शनं च शरणं च चारित्रं शरणं च ।
तपः संयमश्च शरणं, भगवान् शरणो महावीरः ॥१॥

७५१ से सव्वदंसी अभिभूयणाणी, णिरामगंधे धिइमं ठियप्पा ।
अणुत्तरे सव्वजगंसि विज्जं, गंथा अतीते अभए अणाऊ ॥२॥
स सर्वदर्शी अभिभूयज्ञानी, निरामगन्धो धृतिमान् स्थितात्मा ।
अनुत्तरः सर्वजगति विद्वान्, ग्रन्थादतीतः अभयोऽनायुः ॥२॥

७५२ से भूइपण्णे अणिएयचारी, ओहंतरे धीरे अणंतचक्खू ।
अणुत्तरे तवति सूरिए व, वइरोयणिंदे व तमं पगासे ॥३॥
स भूतिप्रज्ञोऽनिकेतचारी, ओघंतरो धीरोऽनन्तचक्षुः ।
अनुत्तरं तपति सूर्य इव, वैरोचनेन्द्र इव तमः प्रकाशयति ॥३॥

७५३ हत्थीसु एरावणमाहु णाए, सीहो मिगाणं सलिलाण गंगा ।
पक्खीसु वा गरुले वेणुदेवो, निव्वाणवादीणिह नायपुत्ते ॥४॥
हस्तिष्वैरावणमाहु ज्ञातं, सिंहो मृगाणां सलिलानां गङ्गा ।
पक्षिषु वा गरुडो वैनतेयः निर्वाणवादिनामिह ज्ञातपुत्रः ॥४॥

७५४ दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं, सच्चेसु वा अणवज्जं वयंति ।
तवेसु वा उत्तम बंभचेरं, लोगुत्तमे समणे नायपुत्ते ॥५॥
दानानां श्रेष्ठमभयप्रदानं सत्येषु वा अनवद्यं वदन्ति ।
तपस्सु वा उत्तमं ब्रह्मचर्यं, लोकोत्तमः श्रमणो ज्ञातपुत्रः ॥५॥

७५५ जयइ जगजीवजोणी वियाणओ जगगुरू जगाणंदो ।
जगणाहो जगबंधू, जयइ जगप्पियामहो भयवं ॥६॥
जयति जगज्जीवयोनि-विज्ञायकः जगद्गुरुर्जगदानन्दः ।
जगन्नाथो जगद्बन्धुर्जयति जगत्पितामहो भगवान् ॥६॥

७५६ जयइ सुयाणं पभवो, तित्थयराणं अपच्छिमो जयइ ।
जयइ गुरू लोगाणं, जयइ महप्पा महावीरो ॥७॥
जयति श्रुतानां प्रभवः, तीर्थकराणामपश्चिमो जयति ।
जयति गुरुर्लोकानां, जयति महात्मा महावीरः ॥७॥

७५० ज्ञान मेरा शरण है, दर्शन मेरा शरण है, चारित्र मेरा शरण है, तप और संयम मेरा शरण है तथा भगवान् महावीर मेरे शरण हैं।

७५१ वे भगवान् महावीर सर्वदर्शी, केवलज्ञानी, मूल और उत्तर-गुणों सहित विशुद्ध चारित्र का पालन करनेवाले, धैर्यवान् और ग्रन्थातीत अर्थात् अपरिग्रही थे। अभय थे और आयुकर्म से रहित थे।

७५२ वे वीरप्रभु अनन्तज्ञानी, अनियताचारी थे। संसार-सागर को पार करनेवाले थे। धीर और अनन्तदर्शी थे। सूर्य की भाँति अतिशय तेजस्वी थे। जैसे जाज्वल्यमान अग्नि अन्धकार को नष्ट कर प्रकाश फैलाती है, वैसे ही उन्होंने भी अज्ञानान्धकार का निवारण करके पदार्थों के सत्यस्वरूप को प्रकाशित किया था।

७५३ जैसे हाथियों में ऐरावत, मृगों में सिंह, नदियों में गंगा, पक्षियों में वेणुदेव (गरुड) श्रेष्ठ है, उसी तरह निर्वाणवादियों में ज्ञातपुत्र (महावीर) श्रेष्ठ थे।

७५४ जैसे दानों में अभयदान श्रेष्ठ है, सत्यवचनों में अनवद्य वचन (पर-पीडाजनक नहीं) श्रेष्ठ है। जैसे सभी सत्यतपों में ब्रह्मचर्य उत्तम है, वैसे ही ज्ञातपुत्र श्रमण लोक में उत्तम थे।

७५५ जगत् के जीवों की योनि अर्थात् उत्पत्तिस्थान को जाननेवाले, जगत् के गुरु, जगत् के आनन्ददाता, जगत् के नाथ, जगत् के बन्धु, जगत् के पितामह भगवान जयवन्त हों।

७५६ द्वादशांगरूप श्रुतज्ञान के उत्पत्तिस्थान जयवन्त हों, तीर्थंकरों में अन्तिम जयवन्त हों। लोकों के गुरु जयवन्त हों। महात्मा महावीर जयवन्त हों।

गाथानुक्रमणिका

पारिभाषिक शब्दकोश

[अक गाथाओ के द्योतक है। जिन अको के साथ सूत्र लिखा है, वे अक प्रकरण के द्योतक है।]

अग—सम्यग्दर्शन के आठ गुण (सूत्र १८)

अगार—वेश्म या घर (२९८)

अज्ञान—मोहयुक्त मिथ्याज्ञान (२८९)

अज्ञानी—मिथ्यादृष्टि (१९५)

अजीव—सुख दुख तथा हिताहित के ज्ञान से (५९३) और चेतना स रहित पुद्गल आदि पाँच द्रव्य (६२५)

अणुव्रत—श्रावक के पाँच व्रत। (सूत्र ३००)

अतिथिसविभागव्रत—साधु को चार प्रकार का दान देना (३३० ३३१)

अतीन्द्रिय सुख—आत्म-जात निराकुल आनन्दानुभूति (६१४ ६१५)

अदत्तादान-व्रत—अचौर्यव्रत। (३१३)

अधर्मद्रव्य—जीव तथा पुद्गल की स्थिति मे, पृथिवी की भाँति सहायक, लोकाकाश प्रमाण एव अमूर्त द्रव्य (६२५ ६२६, ६३४)

अध्यवसान—पदार्थ निश्चय (५४५)

अध्यवसाय—कर्म-बध का कारण, जीव की राग-बुद्धि (१५४, ३९२)

अध्यात्म—शुद्धात्मा म विशुद्धता का आधार भूत अनुष्ठान (१३७)

अनगार—गृहत्यागी साधु (३३६)

अनभिगृहीत मिथ्यात्व—दूसरे के उपदेश आदि से निरपेक्ष जन्म-जात तात्त्विक अश्रद्धान (५४९)

अनर्थदण्डव्रत—प्रयोजनविहीन कार्यों का त्याग (३२१ ३२२)

अनशन—कर्मो की निर्जरार्थ यथाशक्ति एक दो दिन आदि के लिए आहार-त्याग रूप तप (४४२–४४७)

अनित्य-अनुप्रेक्षा—वैराग्य-वृद्धि के लिए जगत् की क्षणभगुरता का बारम्बार चिन्तन (५०७ ५०८)

अनिवृत्तिकरण—साधक की नवम भूमि, जिसमे समान समयवर्ती सभी साधको के परिणाम समान हो जाते हैं, और प्रतिसमय उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धता को प्राप्त होते रहते हैं (५५८)

अनुप्रेक्षा—वैराग्य-वृद्धि के लिए बार बार चिन्तवन की जानेवाली १२ भावनाएँ (सूत्र ३०)

अनेकान्त—वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता का या वस्तु की अनन्त धर्मात्मकता का निश्चायक तत्त्व, नित्यत्व-अनित्यत्व आदि परस्पर-विरोधी अनेक धर्म-युगलो से युक्त वस्तु का अविभाज्य एकरसात्मक जात्यन्तर स्वरूप (६६९–६७२)

अन्तरात्मा–देहादि से भिन्न आत्मस्वरूप का समझनेवाला सम्यग्दृष्टि (१७६)

अन्तराय-कर्म–दान लाभ आदि में बाधक कर्म (६६)

अन्यत्व अनुप्रेक्षा–अपने स्वरूप को देहादि से भिन्न देखने की भावना (५१८–५२०)

अपध्यान–राग-द्वेषवश दूसरों का अनिष्ट चिन्तन (३२१)

अपरभाव–वस्तु का शुद्ध स्वभाव या तत्त्व (५६०)

अपरमभाव–अपरभाववत् (५६०)

अपवाद–शक्ति की हीनतावश वीतराग मार्गियों को भी आहार आदि के ग्रहण की आज्ञा (४४)

अपूर्वकरण–साधक की अष्टम भूमि, जिसमें प्रविष्ट होने पर जीवों के परिणाम प्रति समय अपूर्व अपूर्व ही होते हैं (५५६-५५७)

अप्रदेश–जिसका अन्य कोई प्रदेश नहीं होता ऐसा एकप्रदेशी परमाणु (६५२)

अप्रमत्त–रागद्वेषरहित, यत्नाचारी और आत्मा के प्रति सदा जागृत (१६६–१६६)

अप्रमत्तसंयत–साधक की सप्तम भूमि, जहाँ किसी प्रकार का भी प्रमाद व्यक्त नहीं होता (५५५)

अप्रमाद–राग द्वेषविहीन आत्मजागृति (सूत्र १३)

अभयदान–मरण आदि के भय से ग्रस्त जीवों की रक्षा करना (३३५)

अभिगृहीत मिथ्यात्व–दूसरों के उपदेश आदि से असत्य धर्म तथा तत्त्वों के प्रति उत्पन्न श्रद्धा और सत्य के प्रति अश्रद्धा (५४६)

अभ्यन्तर ग्रन्थ–मिथ्यादर्शन तथा कषाय आदि १४ भाव (१४३)

अभ्यन्तर तप–प्रायश्चित्त विनय आदि के रूप में छह प्रकार का आन्तरिक तप (४५६)

अभ्यन्तर सल्लेखना–कषायों की कृशता (५७४)

अमूढदृष्टि–तत्त्वों के प्रति अभ्रान्तदृष्टि (२३७)

अमूर्त–इन्द्रिय प्रत्यक्ष न होने के कारण (५६५) जीव आदि पाँच द्रव्य (६२६)

अयोगी-केवली–साधक की चौदहवीं अथवा अन्तिम भूमि जिसमें मन वचन काय की समस्त चेष्टाएँ शान्त होकर शैलेशी स्थिति प्राप्त जीव (५६४)

अरहंत या अर्हन्त–प्रथम परमेष्ठी (१), जीवन्मुक्त सर्वज्ञ (७) जो पुनः देह धारण नहीं करते (१८०)

अर्थ–ज्ञान के विषय द्रव्य गुण व पर्याय (३२)

अस्पर्श–दे० अमूर्त (५६२)

अलोक–लोक के बाहर स्थित केवल असीम आकाश (६३६)

अवधिज्ञान–मर्यादित देश-काल की अपेक्षा अन्तरित कुछ द्रव्यों का तथा उनके कुछ सूक्ष्म भावों तक को एक सीमा तक प्रत्यक्ष करनेवाला ज्ञान विशेष (६८१, ६८६)

अवमौदर्य–आहार की मात्रा में क्रमशः कमी करते हुए एक चावल तक पहुँचना (४४८)

अविरत सम्यग्दृष्टि–साधक की चतुर्थ भूमि जिसमें सम्यग्दर्शन हो जाने पर भी भोगों अथवा हिंसा आदि पापों के प्रति विरति भाव जागृत नहीं हो पाता (५५२)

अविरति–हिंसा आदि पाँच पापों में विरक्ति का अभाव (६०८)

अशरण-अनुप्रेक्षा–वैराग्य वृद्धि के लिए धन कुटुम्बादि की अशरणता का चिन्तवन तथा धर्म की शरण में जाने की भावना (५०६ ५१०)

अशुचि-अनुप्रेक्षा–वैराग्य-वृद्धि के लिए देह की अशुचिता का बार बार चिन्तवन (५२१)

अशुभ भाव–तीव्र कषाय (५६८)

अशुभ-लेश्या–कृष्ण आदि तीव्र कषाययुक्त तीन वृत्तियाँ (५३४)

अष्ट–१ कर्म, २ सिद्धों के गुण ३ प्रवचन-माता तथा ४ मद ये सब आठ-आठ हैं।

असंख्यप्रदेश–आकाश अनन्त है जिसके मध्य लोक भाग केवल असंख्यातप्रदेश प्रमाण है। धर्म तथा अधर्म द्रव्य भी इतने ही परिमाणवाले हैं। जीवद्रव्य भी परमार्थतः इतना ही बड़ा है परन्तु देह में संकुचित होने से यह परिमाण अव्यक्त है। उसको केवल-समुद्घात अवस्था ही ऐसी है कि एक क्षण के लिए वह फैलकर लोक प्रमाण हो जाता है (६४६)

अस्तिकाय–जीव आदि छहों द्रव्य अस्तित्व युक्त हैं, परन्तु प्रदेश प्रचय युक्त होने से कायवान केवल पाँच हैं। परमाणुवत समय मात्र एकप्रदेशी होने के कारण कालद्रव्य कायवान् नहीं है (६२६ ६३१)

अस्तेय–बिना दिये कोई वस्तु ग्रहण न करने का भाव या व्रत (३१२ ३७० ३७१)

अहंकार–'अहं' व 'मैं' पन का भाव (३४६)

अहिंसा–प्राणि वध न करना व्यवहार अहिंसा है (१४८) और राग-द्वेष न होना (१५१) अथवा यतनाचार-अप्रमाद (१५७) निश्चय अहिंसा है।

आकाश–सब द्रव्यों को अवकाश देनेवाला सर्वगत अमूर्त द्रव्य जो लोक और अलोक दो भागों में विभक्त है (६२५–६२६ ६२५)

आकिंचन्य–निःसंगता या अकिंचनवृत्ति–नितान्त अपरिग्रहवृत्ति। दस धर्मों में से नौवाँ (१०५–११०)

आगम–पूर्वापर विरोध रहित जैनग्रन्थ, वीतरागवाणी (२०)

आगम निक्षेप–विचारणीय पदार्थ विषयक शास्त्र का ज्ञाता पुरुष भी कदाचित उसी नाम से जाना जाता है, जैसे मशीनरी का ज्ञाता मैकेनिक (७४१–७४४)

आचार्य–स्वमत तथा परमत के ज्ञाता संघनायक साधु (६, १७६)

आत्मा–व्यक्ति का निजत्व (१२१–१२८) अथवा उसका ज्ञान-दर्शन प्रधान चेतन तथा अमूर्त अन्तस्तत्त्व (१८५) (सूत्र १५)

आदान निक्षेपण समिति–वस्तुओं को उठाने धरने में विवेक–यतनाचार (४१०)

आधाकर्म–चक्की चूल्हा आदि के अधिक आरम्भ द्वारा तैयार किया गया हिंसा-युक्त भोजन (४०६)

आभिनिबोधिक ज्ञान–इन्द्रियाभिमुख विषयों का ग्रहण। मतिज्ञान का दूसरा नाम (६७७)

आयुकर्म–आत्मा को शरीर में रोक रखने वाला कर्म (६०)

आरम्भ–प्राणियो को दुख पहुँचानेवाली हिंसायुक्त प्रवृत्ति (४१२–४१४)

आर्जव–निश्छलता तथा सरलता (९१)

आर्तध्यान–इष्टवियोग अनिष्टसयोग तथा वेदना आदि के कारण उत्पन्न होनेवाला दुख व खेदयुक्त मन स्थिति (३२८)

आलोचना–सरलभाव से अपने दोषो का आत्मनिन्दनपूर्वक प्रकटीकरण (४६१–४६५)

आवश्यक–साधु के द्वारा नित्य करणीय प्रतिक्रमण आदि छ कर्त्तव्य (६१८–६२०, ६२४)

आसन–ध्यान तथा तप आदि के लिए साधु के बैठने अथवा खडे होने की विधि। पल्यकासन (४८६) वीरासन (४५२) आदि के भेद से अनेक प्रकार के।

आस्रव–मन वचन काय की प्रवृत्ति के द्वारा शुभाशुभ कर्मों का आगमन (६०१–६०४)

आस्रव-अनुप्रेक्षा–वैराग्य वृद्धि के लिए मोह जन्य भावो को तथा मन वचन काय की प्रवृत्तियो की हेयता का चिन्तवन (५२२)

आस्रवद्वार–कर्मागमन के मूल कारण–मिथ्यात्व अविरति, कषाय और योग (६०५)

इन्द्रिय–ज्ञान के पाँच करण–स्पर्शन, रसना घ्राण नेत्र तथा श्रोत्र (४७)

इहलोक–मनुष्य या तिर्यक् जगत (१२७)

ईर्या-समिति–गमनागमन विषयक यतनाचार (३९६)

उच्चार-समिति–दे० प्रतिष्ठापना समिति

उत्तमार्थकाल–सल्लेखनायुक्त मरणकाल (५७८)

उत्पाद–द्रव्य की नित्य नवीन पर्यायो की उत्पत्ति (६६६–६६७)

उत्पादन-दोष–गृहस्थों को उनके इच्छानुसार विद्या सिद्धि या चिकित्सा आदि का उपाय बताने से प्राप्त होनेवाली सदोष भिक्षा (४०५)

उत्सर्ग–ज्ञानादि कार्य की सफलता का सर्वथा निर्दोष अति कठोर मार्ग जिसमे साधु किसी भी प्रकार का परिग्रह ग्रहण नही करता (४४)

उद्गम-दोष–अपने निमित्त से तैयार किया गया भोजन या भिक्षा ग्रहण करना सदोष (४०५)

उदुम्बर–ऊमर बड, पीपल, गूलर तथा पाकर ये अग्राह्य पाँच फल जिनमे छोटे छोटे जीवो की बहुलता होती है (३०२)

उपगूहन–सम्यग्दर्शन का एक अंग, अपने गुणो को तथा दूसरो के दोषो को प्रकट न करना (२३६)

उपधि–शक्ति की हीनतावश निर्ग्रन्थ साधु के द्वारा ग्रहण किये जानेवाले आहार आदि कुछ निर्दोष तथा शास्त्रसम्मत पदार्थ (३७७–३७८)

उपभोग–पुन पुन भोगे जाने योग्य वस्त्र अलकार आदि पदार्थ या विषय (३२३)

उपयोग–आत्मा का चैतन्यानुविधायी ज्ञान दर्शन युक्त परिणाम (६४६)

उपबृंहण–धार्मिक भावनाओं के द्वारा आत्मिक शक्तियों की अभिवृद्धि (२३८)

उपशम–समभाव (१३६)

उपशामक–कषायो का उपशमन करनेवाला साधक (५५५)

उपशमन–ध्यान चिन्तन आदि के द्वारा कषायो को प्रशान्त करना (५५७)

उपशान्त-कषाय—साधक की ग्यारहवीं भूमि जिसमे कषायों का पूर्ण उपशमन हो जाने से वह कुछ काल के लिए अत्यन्त शान्त हो जाता है (५६०)

उपशान्त-मोह—उपशान्त-कषाय गुणस्थान का दूसरा नाम।

उपाध्याय—चतुर्थ परमेष्ठी (१), आगम ज्ञाता साधु (१०)

ऊनोदरी—दे० अवमौदर्य

ऋजुसूत्र-नय—भूत भविष्यत् से निरपेक्ष केवल वर्तमान पर्याय का पूर्ण द्रव्य स्वीकार करनेवाली क्षणभंगवादी दृष्टि (७०८-७०७)

ऋषि—ऋद्धि सिद्धि-सम्पन्न साधु (३३६)

एकत्व-अनुप्रेक्षा—वैराग्य-वृद्धि के लिए अपने कर्मों का फल भोगने में सर्व जीवों की असहायता का चिन्तवन (५१५)

एकेन्द्रिय—केवल स्पर्शन इन्द्रियधारी पृथिवी जल वायु अग्नि व वनस्पति आदि जीव (६५०)

एवंभूत-नय—जिस शब्द का जिस क्रियावाचक व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ होता है, उसके द्वारा उस क्रियारूप परिणमित पदार्थ का ही समझना। जैसे गमनार्थक 'गो' शब्द के द्वारा चलती हुई गाय का ही ग्रहण करना न कि बैठी हुई का (७१२-७१३)

एषणा-समिति—भिक्षाचर्या विषयक विवेक-यतनाचार (४०८-४०६)

करण—प्रवृत्ति के साधन वचन व काय (६०१) अथवा इन्द्रियाँ।

कर्म—मन वचन काय की शुभ या अशुभ प्रवृत्ति या व्यापार (६०१)। ८ निमित्त से बंध को प्राप्त होनेवाला कर्मजातीय सूक्ष्म पुद्गलस्कंधरूप द्रव्य कर्म जो ज्ञानावरण आदि आठ भेद रूप है। कर्म के फलोदय वश होनेवाले रागादि परिणाम भाव-कर्म हैं (सूत्र ६)

कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभरूपी आत्मघातक विकार (१३५-१३६)

कापोत-लेश्या—तीन अशुभ लेश्याओं में से तृतीय या जघन्य (५३४, ५४१)

कामभोग—इन्द्रियों द्वारा भोग्य विषय (४६)

काय—अनेक प्रदेशों का प्रचय या समूह जिससे युक्त द्रव्य कायवान् हैं (६५६)। जीव के पृथिवी आदि पाँच स्थावर तथा एक त्रस ऐसे छः जाति के शरीर काय कहलाते हैं (६५०)

कायक्लेश—ग्रीष्म ऋतु में गिरि-शिखर पर उत्कट आसन लगाकर आतापन योग धारण करना, और इसी प्रकार शरद-ऋतु में शीतयोग और वर्षाऋतु में वर्षा योग धारण करना एक तप (४५२)

कायगुप्ति—काय प्रवृत्ति का गोपन, संकोचन (४१४)

कायोत्सर्ग—कुछ काल के लिए शरीर को काष्ठवत् समझ धैर्यपूर्वक उपसर्ग सहन करने के रूप में किया जानेवाला आभ्यन्तर तप (४३४-४३५, ४८०)

काल—समयप्रमाण एकप्रदेशी अमूर्त तथा निष्क्रिय द्रव्य, जो समस्त द्रव्यों के परिणमन में सामान्य हेतु है (६२५-६२६ ६३७-६३६)

कुल—जीवों की १६६½ लाख करोड़ जातियाँ (३६७)

कूटशाल्मली—नरकों के प्रति, कटीले वृक्ष (१२२)

कृष्ण-लेश्या–तीन अशुभ लेश्याओं में से प्रथम या तीव्रतम (५३४, ५३६)

केवलज्ञान–इन्द्रिय आदि से निरपेक्ष तथा सर्वग्राही आत्मज्ञान (६८४, ६८६)

केवलदर्शन–केवलज्ञानवत सर्वग्राही दर्शन (६२०)

केवललब्धि–केवलज्ञान की भाँति अर्हन्तों तथा सिद्धों की नव लब्धियाँ–अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसम्यक्त्व, अनन्त चारित्र या सुख। तथा अनन्त दान, लाभ भोग, उपभोग तथा वीर्य (५६२)

केवलवीर्य–केवलज्ञानवत् जानने-देखने आदि की अनन्तशक्ति (६२०)

केवलसुख–केवलज्ञानवत् इन्द्रियादि से निरपेक्ष अनन्तसुख या निराकुल आनन्द (६२०)

केवली–केवलज्ञान-दर्शन आदि शक्तियों से सम्पन्न अर्हन्त परमेष्ठी (५६२ ५६३)

क्षपक–कषायों का क्षपण करनेवाला साधक (५५५)

क्षपण–ध्यान आदि के द्वारा कषायों को समूल नष्ट कर देना, जिससे वे पुनः न उभरें (५५७)

क्षमा–दस धर्मों में से एक (८५, १३५)

क्षीणकषाय–साधक की १२वीं भूमि, जिसमें कषायों का समूल नाश हो जाता है। (५६१)

क्षीणमोह–क्षीणकषाय गुणस्थान का दूसरा नाम।

खेचर–विद्या के बल से आकाश में विचरण करने में समर्थ मनुष्यों की एक जाति विशेष, विद्याधर (२०४)

खरकर्म–कोयला बनाना, पशुओं के द्वारा बोझ ढुलाई इत्यादि ऐसे व्यापार जो प्राणियों को पीड़ा पहुँचे बिना हो नहीं सकते। (३२५)

गच्छ–तीन से अधिक पुरुषों या साधुओं का समूह (२६)

गण–तीन पुरुषों या साधुओं का समूह अथवा स्थविर साधुओं की परम्परा (२६)

गणधर–तीर्थंकर के साधु गण के नायक जो अर्हन्तोपदिष्ट ज्ञान का शब्दबद्ध करते हैं (१६)

गति–भव से भवान्तर की प्राप्तिरूप चार गतियाँ–नारक तिर्यञ्च मनुष्य तथा देव (५२)

गर्हण–रागादि का त्याग कर गुरु के समक्ष कृत दोषों को प्रकट करना (४३०)

गुण–द्रव्य के सम्पूर्ण प्रदेशों में तथा उसकी समस्त पर्यायों में व्याप्त धर्म। जैसे मनुष्य में ज्ञान तथा आम्रफल में रस (६६१)

गुणव्रत–श्रावक के पाँच अणुव्रतों में वृद्धि करनेवाले दिक् देश तथा अनर्थदण्ड नामक तीन व्रत (३१८)

गुणस्थान–कर्मों के उदयादि के कारण होने वाली साधक की उत्तरोत्तर उन्नत १४ भूमिकाएँ (५४६–५४८) (विशेष दे० सूत्र ३२)

गुप्ति–समितियों में सहायक मानसिक वाचनिक तथा कायिक प्रवृत्तियों का गोपन (३८४ ३८६) (विशेष दे० सूत्र २६ इ)

गुरु–सम्यक्त्वादि गुणों के द्वारा महान होने के कारण अर्हन्त सिद्ध आदि पंच परमेष्ठी (६)

गृहीत मिथ्यात्व—(दे० अभिगृहीत मिथ्यात्व)

गोत्रकर्म—जिस कर्म के कारण जीव उच्च तथा नीच कुल में जन्म लेता है (६६)

गौरव—वचन, कला, ऋद्धि तथा समृद्धि के कारण व्यक्ति में उत्पन्न होनेवाला अभिमान (२४८)

ज्ञानावरण—जीव के ज्ञान गुण को आवृत या मन्द करनेवाला कर्म (६६)

ग्रन्थ—२४ प्रकार का परिग्रह (१८२)

घातीकर्म—जीव के ज्ञानादि अनुजीवी गुणों का घात करनेवाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय नामक चार कर्म (७)

चतु—१ अय-नय २ कषाय ३ गति, ४ निक्षेप, ५ पर्यायार्थिक नय ६ शिक्षाव्रत सब चार चार होते हैं।

चतुरिन्द्रिय—स्पर्शन, रसना, घ्राण तथा नेत्र इन चार इन्द्रियोंवाले भ्रमर आदि जीव (६५०)

चतुर्दश—१ आभ्यन्तर परिग्रह २ गुणस्थान ३ जीवस्थान ४ मार्गणास्थान ये सब १४ १४ होते हैं।

चारित्र—मन वचन काय की प्रवृत्ति में निमित्तरूप गुण विशेष (३६)

चेतना—जीव में ज्ञान-दर्शन की तथा कर्तृत्व भोक्तृत्व की निमित्तभूत मूलशक्ति (१८५)

च्यावित शरीर—आत्म हत्या द्वारा छूटने वाला शरीर (७४२)

च्युत-शरीर—आयु पूर्ण हो जाने पर स्वतः छूटनेवाला शरीर (७४२)

छद्मस्थ—अल्पज्ञ (४६७)

जिन—इन्द्रिय-जयी तथा कषाय जयी वीतरागी अर्हन्त भगवान (१२)

जीव—चार शारीरिक प्राणों से अथवा चैतन्य प्राण से जीने के कारण आत्मतत्त्व ही जीव है (६४५), यह उपयोग लक्षण-वाला (६४६) क्रियावान अमूर्त द्रव्य है, तथा गणना में अनन्त है (६२७–६२८) ज्ञान की अपेक्षा सर्वगत होते हुए भी (६४८) प्रदेशों की अपेक्षा लोकाकाश प्रमाण है जो अपनी संकोच-विस्तार की शक्ति के कारण देहप्रमाण रहता है। (६४६ ६४७)

जीवस्थान—जीवों के त्रस, स्थावर सूक्ष्म, बादर आदि १४ भेद (१८२ ३६७)

जुगुप्सा—अपने दोषों को तथा दूसरों के गुणों को छिपाना अथवा दूसरों के प्रति ग्लानि का भाव (२३६)

तत्त्व—द्रव्य का अन्य निरपेक्ष निज-स्वभाव या स्वतत्त्व (५६०)

तप—विषय-कषायों के निग्रह अथवा इच्छाओं के निरोध के लिए बाह्य तथा आभ्यन्तर रूप से की जानेवाली क्रियाएँ (१०२, ४२६)

तीर्थ—संसार-सागर से पार करने के लिए तीर्थंकर प्ररूपित रत्नत्रय धर्म तथा तद्युक्त जीव (५१४)

तेजोलेश्या—तीन शुभ लेश्याओं में से जघन्य या शुभ (५३४, ५४२)

त्यक्त-शरीर—सल्लेखना-विधि से छोड़ा गया शरीर (७४२)

त्रस—भय या आहार आदि की खोज में स्वयं चलने फिरने में समर्थ द्वीन्द्रियादि सभी जीव (६५०)

त्रि—१ गुणव्रत २ गुप्ति ३ गौरव, ४ दण्ड, ५ द्रव्यार्थिक-नय ६ निर्वेद

७ नगम, ८ नय, ६ बल, १० भुवन, ११ मूढता, १२ याग १३ लोक, १४ वेद १५ शब्दनय, १६ शल्य, १७ सामायिक, १८ स्त्री ये सब तीन-तीन हैं।

त्रीन्द्रिय–स्पशन रसना, घ्राण इन तीन इन्द्रियवाले चाटी आदि जीव (६५०)

दण्ड–मन वचन काय (१०१)

दमन–ज्ञान ध्यान व तप द्वारा इन्द्रिय विषयों तथा कषायों का निरोध (१२७, १३१)

दशन–ज्ञान के विषयभूत पदाथ का निराकार तथा निर्विकल्प प्रतिभास करने वाली चेतनाशक्ति (३६)

दशनावरण–जीव के दशन-गुण का आवृत अथवा मन्द करनेवाला कम (६६)

दश–बाह्य परिग्रह तथा धम दस-दस हैं।

दान्त–इन्द्रियों तथा कषायों का दमन करनेवाला (१२७)

दिग्व्रत–परिग्रह-परिमाणव्रत की रक्षाथ व्यापार-क्षेत्र को सीमित रखने में सहायक गुणव्रत (३१६)

दुगति–नरक व तियञ्च गतियाँ (५८७)

दुनय–विरोधी धर्म की अपेक्षा को ग्रहण न करनेवाली केवल अपना पक्ष पकडने वाली दृष्टि (७२५)

देशव्रत या देशावकाशिकव्रत–देश देशान्तर में गमनागमन या व्यापार-सबधी मर्यादारूप व्रत अथवा जिस देश में जाने से व्रतभग होने का भय हो वहाँ जाने का त्याग (३२०)

द्रव्य–गुणों और पर्यायों का आश्रयभूत पदाथ (६६१) जो जीव पुद्गल आदि के भेद से छह हैं (६२४)

द्रव्य-कम–जीव के रागादि भावों का निमित्त पाकर उसके साथ बध को प्राप्त हो जानेवाला सूक्ष्म पुद्गलस्कन्ध (६२, ६५४ ६५५)

द्रव्य निक्षेप–आगामी परिणाम की योग्यता रखनेवाले किसी पदाथ को वतमान में ही वैसा कह देना, जसे राजपुत्र को राजा कहना (७४१ ७४२)

द्रव्य प्रतिक्रमण–प्रतिक्रमणपाठ का उच्चारण मात्र (४२२, ४३२)

द्रव्य-लिंग–साधु का बाह्य वेश या चिह्न (३६०–३६२)

द्रव्य हिंसा–प्राणि-वध (३८६ ३६०)

द्रव्यार्थिकनय–पर्यायों को दृष्टि से ओझल करके द्रव्य को सदा अनुत्पन्न तथा अविनष्ट देखनेवाली दृष्टि (६६४–६६७)

द्वन्द्व–इष्ट अनिष्ट दुख-सुख, जन्म-मरण, सयोग वियोग आदि परस्पर विरोधी युगल भाव (१०५)

द्वादश–तप तथा श्रावक-व्रत १२ १२ हैं।

द्विपद–स्त्री कुटुम्ब आदि (१४४)

द्वीन्द्रिय जीव–स्पशन और रसना इन दो इन्द्रियवाले केंचुआ जोंक आदि जीव (६५०)

द्वेष–अनिष्ट या अरुचिकर पदार्थों के प्रति अप्रीति का भाव (सूत्र ८)

धम–जीव के निज-स्वभाव या तत्वरूप सम्यग्दशन आदि, अहिंसा आदि, क्षमा आदि अथवा समता आदि भाव (८३, २७४, सूत्र १५)

धम-अनुप्रेक्षा–वैराग्य-वृद्धि के लिए जन्म जरामरणरूप इस दुखमय ससार म

धम मा ही रक्षस्वरूप म चिन्तवन (५२५)

धर्म-द्रव्य–जीव तथा पुदगलो की गति म सहायक हेतु, लोकाकाश प्रमाण निष्क्रिय अमूर्त द्रव्य (६२५–६३३)

धम ध्यान–आत्मा के अथवा अर्हन्त सिद्ध आदि के स्वरूप का एकाग्र चिन्तवन तथा मत्र जाप्य आदि (५०५)

ध्यान–आत्म चिन्तवन आदि म चित्त की एकाग्रता (४८५, सूत्र २६)

ध्रौव्य–द्रव्य का नित्य अवस्थित सामान्य भाव, जैसे बाल-युवा आदि अवस्थाओ म मनुष्यत्व (६६२–६६७)

नय–वक्ता ज्ञानी का हृदयगत अभिप्राय (३३) सकलार्थग्राही प्रमाणस्वरूप श्रुतज्ञान का विकलार्थग्राही एक विकल्प, अथवा वस्तु के किसी एक अश का ग्राहक ज्ञान (६९०)

नव–केवललब्धि तथा तत्त्वार्थ नौ-नौ है।

नाम-कर्म–जीव के लिए चारों गतियो म विविध प्रकार के शरीरो की रचना करनेवाला कर्म (६६)

नाम निक्षेप–अपनी इच्छा स किसी वस्तु का कुछ भी नाम रखना (७३६)

निकाक्षा–वस्तु की तथा ख्याति-लाभ-पूजा की इच्छा स रहित निष्काम भाव, सम्यग्दर्शन का एक अग (२३३ २३५)

नि शका–किसी भी प्रकार के भय या आशका स रहित भाव, सम्यग्दर्शन का एक अग (२३२)

नि सग–सभी बाह्य पदार्थों म तथा उनकी आकाक्षा से रहित निग्रन्थ साधु (३४६)

निक्षेप–नाम अथवा स्थापना, द्रव्य और भाव द्वारा किसी पदार्थ को युक्तिपूर्वक जानने तथा जतलाने का माध्यम (२३, ७३७)

निदान–मरने के पश्चात् पर भव म सुखादि प्राप्त करने की अभिलाषा (३६६)

निमित्तज्ञान–तिल, मसा आदि देखकर भविष्य बतानेवाली विद्या अथवा ज्योतिष (२४४)

निग्रन्थ–ग्रन्थ और ग्रन्थिरहित अपरिग्रही, देखो नि सग।

निर्जरा–सात तत्त्वो म स एक, जिसके दो भेद हैं दुख-सुख तथा जन्म-मरण आदि द्वन्द्वो से अतीत, जीव की केवल ज्ञाना-नन्दरूप अवस्था (६१७–६१९) अर्थात मोक्ष (१९० २११)

निर्विचिकित्सा–जुगुप्सा का अभाव, सम्यग्दर्शन का एक अग (२३६)

निर्वेद–ससार, देह व भोग तीनो से वैराग्य (७२)

निश्चयनय–अनन्त धर्मात्मक वस्तु के अखण्ड तथा वास्तविक स्वरूप को दर्शानेवाला वह ज्ञान जो न गुण-गुणी रूप भेदोपचार करके व्याख्या करता है और न ही बाह्य निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धरूप कोई अभेदोपचार स्वीकार करता है (२५)। जैसे कि मोक्षमार्ग को सम्यग्दर्शन आदि रूप स त्रयात्मक न कहकर सब पक्षो स अतीत निर्विकल्प कहना (७१८) अथवा जीव-वध को हिंसा न कहकर रागादि भाव को ही हिंसा कहना (१५३)

७ नैगम, ८ नय, ९ बल, १० भुवन, ११ मूढता, १२ योग, १३ लोक, १४ वेद १५ शब्दनय, १६ शल्य, १७ सामायिक, १८ स्त्री, ये सब तीन-तीन हैं।

त्रीन्द्रिय–स्पर्शन, रसना, घ्राण इन तीन इन्द्रियोंवाले चींटी आदि जीव (६५०)

दण्ड–मन वचन काय (१०१)

दमन–ज्ञान ध्यान व तप द्वारा इन्द्रिय विषयों तथा कषायों का निरोध (१२७ १३१)

दर्शन–ज्ञान के विषयभूत पदार्थ का निराकार तथा निर्विकल्प प्रतिभास करनेवाली चेतनाशक्ति (३६)

दर्शनावरण–जीव के दर्शन-गुण को आवृत अथवा मन्द करनेवाला कर्म (६६)

दश–बाह्य परिग्रह तथा धर्म दस-दस हैं।

दान्त–इन्द्रियों तथा कषायों का दमन करनेवाला (१२७)

दिग्व्रत–परिग्रह परिमाणव्रत की रक्षार्थ व्यापार-क्षेत्र को सीमित रखने में सहायक गुणव्रत (३१९)

दुर्गति–नरक व तिर्यञ्च गतियाँ (५८७)

दुर्नय–विरोधी धर्म की अपेक्षा को ग्रहण न करनेवाली केवल अपना पक्ष पकड़नेवाली दृष्टि (७२८)

देशव्रत या देशावकाशिकव्रत–देश-देशान्तर में गमनागमन या व्यापार-संबंधी मर्यादारूप व्रत अथवा जिस देश में जाने से व्रतभंग होने का भय हो वहाँ जाने का त्याग (३२०)

द्रव्य–गुणों और पर्यायों का आश्रयभूत पदार्थ (६६१) जो जीव पुद्गल आदि के भेद से छह हैं (६२४)

द्रव्य-कर्म–जीव के रागादि भावों का निमित्त पाकर उसके साथ बंध को प्राप्त हो जानेवाला सूक्ष्म पुद्गलस्कंध (६२, ६५४ ६५५)

द्रव्य निक्षेप–आगामी परिणाम की योग्यता रखनेवाले किसी पदार्थ को वर्तमान में ही वैसा कह देना, जैसे राजपुत्र को राजा कहना (७४१ ७४२)

द्रव्य प्रतिक्रमण–प्रतिक्रमणपाठ का उच्चारण मात्र (४२२, ४३२)

द्रव्य लिंग–साधु का बाह्य वेश या चिह्न (३६०–३६२)

द्रव्य हिंसा–प्राणि-वध (३८९ ३९०)

द्रव्यार्थिकनय–पर्यायों को दृष्टि से ओझल करके द्रव्य को सदा अनुत्पन्न तथा अविनष्ट देखनेवाली दृष्टि (६९४–६९७)

द्वन्द्व–इष्ट-अनिष्ट, दुख-सुख, जन्म-मरण, संयोग वियोग आदि परस्पर विरोधी युगल भाव (१०४)

द्वादश–तप तथा श्रावक-व्रत १२ १२ हैं।

द्विपद–स्त्री कुटुम्ब आदि (१४४)

द्वीन्द्रिय जीव–स्पर्शन और रसना इन दो इन्द्रियोंवाले केंचुआ जोंक आदि जीव (६५०)

द्वेष–अनिष्ट या अरुचिकर पदार्थों के प्रति अप्रीति का भाव (सूत्र ८)

धर्म–जीव के निज-स्वभाव या तत्स्वरूप सम्यग्दर्शन आदि अहिंसा आदि क्षमा आदि अथवा समता आदि भाव (८३, २७४ सूत्र १५)

धर्म-अनुप्रेक्षा–वैराग्य-वृद्धि के लिए जन्म जरामरणरूप इस दुःखमय संसार में

धर्म का ही रक्षकरूप मे चिन्तवन (४२५)

धर्म-द्रव्य—जीव तथा पुद्गलो की गति मे सहायक हेतु, लोकाकाश प्रमाण निष्क्रिय अमूर्त द्रव्य (६२५–६३३)

धर्म-ध्यान—आत्मा के अथवा अर्हन्त सिद्ध आदि के स्वरूप का एकाग्र चिन्तवन तथा मंत्र जाप्य आदि (५०५)

ध्यान—आत्म चिन्तवन आदि मे चित्त की एकाग्रता (४८५, सूत्र २९)

ध्रौव्य—द्रव्य का नित्य अवस्थित सामान्य भाव, जैसे बाल-युवा आदि अवस्थाओं मे मनुष्यत्व (६६२–६६७)

नय—वक्ता ज्ञानी का हृदयगत अभिप्राय (३३) सकलार्थग्राही प्रमाणस्वरूप श्रुतज्ञान का विकलार्थग्राही एक विकल्प, अथवा वस्तु के किसी एक अंश का ग्राहक ज्ञान (६९०)

नव—केवललब्धि तथा तत्त्वार्थ नौ-नौ हैं।

नाम-कर्म—जीव के लिए चारों गतियों मे विविध प्रकार के शरीरों की रचना करनेवाला कर्म (६६)

नाम निक्षेप—अपनी इच्छा से किसी वस्तु का कुछ भी नाम रखना (७३९)

निःकांक्षा—वस्तु की तथा ख्याति-लाभ-पूजा की इच्छा से रहित निष्काम भाव, सम्यग्दर्शन का एक अंग (२३३ २३५)

निःशंका—किसी भी प्रकार के भय या आशंका से रहित भाव, सम्यग्दर्शन का एक अंग (२३२)

निःसंग—सभी बाह्य पदार्थों से तथा उनकी अभिलाषा से रहित निर्ग्रन्थ साधु (३४६)

निक्षेप—नाम अथवा स्थापना, द्रव्य और भाव द्वारा किसी पदार्थ को युक्तिपूर्वक जानने तथा जतलाने का माध्यम (२३, ७३७)

निदान—मरने के पश्चात पर भव मे सुखादि प्राप्त करने की अभिलाषा (३६६)

निमित्तज्ञान—तिल मसा आदि देखकर भविष्य बतानेवाली विद्या अथवा ज्योतिष (२४४)

निर्ग्रन्थ—ग्रन्थ और ग्रन्थिरहित अपरिग्रही, देखो निःसंग।

निर्जरा—सात तत्त्वों मे से एक, जिसके दो भेद हैं, दुःख-सुख तथा जन्म-मरण आदि द्वन्द्वो से अतीत, जीव की केवल ज्ञानानन्दरूप अवस्था (६१७–६१९) अर्थात मोक्ष (१९२ २११)

निर्विचिकित्सा—जुगुप्सा का अभाव सम्यग्दर्शन का एक अंग (२३६)

निर्वेद—संसार देह व भोग तीनों से वैराग्य (२२)

निश्चयनय—अनन्त धर्मात्मक वस्तु के अखण्ड तथा वास्तविक स्वरूप को दर्शानेवाला वह ज्ञान जो न गुण-गुणी रूप भेदोपचार करके व्याख्या करता है और न ही बाह्य निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धरूप कोई अभेदोपचार स्वीकार करता है (३५)। जैसे कि मोक्षमार्ग का सम्यग्दर्शन आदि रूप से त्रयात्मक न कहकर सब पक्षों से अतीत निर्विकल्प कहना (२१९), अथवा जीव-वध को हिंसा न कहकर रागादि भाव को हिंसा कहना (१५३)

नील-लेश्या–तीन अशुभ लेश्याओं में से द्वितीय या तीव्रतर (५३८, ५४०)

नैगम-नय–संकल्प मात्र के आधार पर गत पदार्थ को अथवा अनिष्पन्न या अर्ध निष्पन्न पर्याय को वर्तमान में अवस्थित या निष्पन्न कहना (७००–७०३) (विशेष दे० भूत वर्तमान व भावि नैगम नय)

नमित्तिक–निमित्तज्ञानी (२८८)

नोआगम निक्षेप–किसी पदार्थ के ज्ञाता व्यक्ति के कर्म व शरीर को वह पदार्थ कह देना जैसे मैंने निक के मृत शरीर को यह मैंने निक था' ऐसा कहना (१४१ ७४४)

नोकर्म–देह को आदि लेकर जितने कुछ भी दृष्ट पदार्थ हैं अथवा उनके कारण भूत सूक्ष्म स्कन्ध हैं वे सब कर्म निमित्तक होने से नोकर्म कहलाते हैं।

नो-इन्द्रिय–किंचित इन्द्रिय होने के कारण मन का नाम।

पंच–१ अजीव २ अणुव्रत ३ इन्द्रिय ४ उदुम्बर फल ५ गुरु ६ ज्ञान ७ महाव्रत, ८ समिति ९ स्थावर जीव पाँच-पाँच हैं।

पंचेन्द्रिय–स्पर्शनादि पाँचों इन्द्रियोंवाले मनुष्यादि जीव (६५०)

पण्डित–अप्रमत्त ज्ञानी (१९८ १९५)

पण्डितमरण–अप्रमत्त ज्ञानियों का सल्लेखनायुक्त मरण (५७० ५७१)

पदस्थ ध्यान–विविध मन्त्रों की जाप करने में मन का एकाग्र होना (४९७)

पद्म-लेश्या–तीन शुभ लेश्याओं में से द्वितीय या शुभतर (५३४, ५४३)

पर-द्रव्य–आत्मा से अतिरिक्त देह आदि सहित सब पदार्थ (५८७)

पर भाव–आत्मा के शुद्ध स्वभाव से अतिरिक्त उसके रागादि सब विकारी भाव तथा अन्य सब पदार्थों के रूप रस आदि भाव (१८८–१९१) तत्त्व या वस्तु का शुद्ध स्वभाव (५९०)

परमभाव–तत्त्व या वस्तु का शुद्ध स्वभाव (५९०)

परमाणु–सब स्कन्धों का मूल कारण, केवल एकप्रदेशी, अविभाज्य, सूक्ष्म पुद्गल द्रव्य (६४३ ६५२)

परमात्मा–अष्ट कर्म से रहित तथा आत्मा के शुद्ध स्वरूप में अवस्थित अर्हन्त तथा सिद्ध (१७८ १७९)

परमार्थ–तत्त्व या वस्तु का शुद्ध स्वभाव (५९०)

परमेष्ठी–मुमुक्षु के लिए परम इष्ट तथा मंगलस्वरूप अर्हन्त, सिद्ध आचार्य उपाध्याय व साधु (१ २)

परलोक–मृत्यु के पश्चात् प्राप्त होनेवाला अन्य भव (१२७)

परसमय–आत्म-स्वभाव के अतिरिक्त अन्य पदार्थों में अथवा अन्य भावों में इष्टा निष्ट की कल्पना करनेवाला मिथ्यादृष्टि (१९४ १९५) अन्य मत (२३, ७३५) पक्षपात (७२०–७२८)

परिग्रह–देह आदि सहित आत्मातिरिक्त जितने भी पर-पदार्थ या पर भाव हैं उनका ग्रहण या संचय व्यवहार-परिग्रह है और उन पदार्थों में इच्छा तथा ममत्व भाव का ग्रहण निश्चय-परिग्रह है (सूत्र ११), (३७९)

परिभोग–दे० उपभोग

परीषह–मार्ग से च्युत न होने के लिए तथा कर्मों की निर्जरा के लिए भूख-प्यास आदि सहन करना (५०३)

परोक्षज्ञान–इन्द्रिय व मन की सहायता से होनेवाला मति और श्रुतज्ञान (६८७)

पर्यंकासन–दोनों जंघाओं को मिलाकर ऊपर नीचे रखना (४८६)

पर्याय–वस्तु की उत्पन्न ध्वंसी परिणमनशील अवस्थाएँ, अथवा गुणों का विकार। जैसे मनुष्य की बाल युवा आदि अवस्थाएँ अथवा रस गुण के खट्टे मीठे आदि विकार (६६१–६६७)

पर्यायार्थिक नय–त्रिकाली द्रव्य की दृष्टि से ओझल करके उसकी वर्तमान समयवर्ती किसी एक पर्याय को ही स्वतंत्र सत्ताधारी पदार्थ के रूप में देखना (६६४–६६७) ऋजुसूत्रादि के भेद से चार प्रकार की (६६६)

पिण्डस्थ ध्यान–अर्हन्त व सिद्ध का अथवा देहाकार आत्मा का ध्यान (४६७)

पीत-लेश्या–दे० तेजोलेश्या

पुद्गल–परमाणु और स्कन्धरूप स्निग्ध तथा मूर्त भौतिक द्रव्य जो नित्य पूरण गलन स्वभावी है (६२५–६२८, ६४०–६४४)

प्रतिक्रमण–निन्दन गर्हण आदि के द्वारा कृत दोषों का शोधन (४३०)

प्रतिलेखन–वस्तु को उठाते धरते अथवा उठते-बैठते समय उस स्थान को जीव रक्षा के भाव से अच्छी तरह देखना (४१०)

प्रतिष्ठापना समिति–मल-मूत्र आदि के निक्षेपण या विसर्जन में विवेक–यतनाचार (४११)

प्रत्यक्षज्ञान–इन्द्रिय व मन से निरपेक्ष केवल आत्मोत्थ ज्ञान (६८६)

प्रत्याख्यान–आगामी दोषों के त्याग का संकल्प (४३६–४३८)

प्रदेश–एक परमाणु-परिमाण आकाश। इसी प्रकार जीवादि सभी द्रव्यों में प्रदेशों की स्थिति (६२०, ६५७)

प्रमत्त–आत्म-स्वभाव के प्रति सुप्त या अजागरूकता (१६२–१६६) अथवा राग-द्वेष रत (६०१)

प्रमत्त-संयत–साधक की षष्टम भूमि जहाँ संयम के साथ-साथ मन्द रागादि के रूप में प्रमाद रहता है (५५४)

प्रमाण–संशयादिरहित सम्यग्ज्ञान (६८५)

प्रमाद–आत्म-प्रसुप्ति चारित्र के प्रति अनुत्साह तथा अनादर (सूत्र १३)

प्रमादचर्या–बैठे-बैठे अनन आसन में से सूत या तिनके तोड़ते रहना, पानी का नल खुला छोड़ देना इत्यादि अप्रयोजनीय सावद्य क्रिया (३२१)

प्रमार्जन–वस्तुओं को उठाते धरते या उठते-बैठते समय उस स्थान को क्षुद्र जीवों की रक्षा के लिए किसी कोमल उपकरण से झाड़ना (४१०)

प्रवचनमाता–मातृवत् रत्नत्रय की रक्षारूप पंचसमिति और तीन गुप्ति (३८५)

प्राण–मन-वचन-काय रूप तीन बल, पाँच इन्द्रियाँ, आयु और श्वासोच्छ्वास ये दस प्राण हैं (६४५)

प्रासुक–जीवा के सयोग अथवा सचार से रहित भोजन (८०९) भूमि (५७६) माग (३६६) इत्यादि ।

प्रोषधोपवास–एक बार भोजन करना प्रोषध है और बिलकुल भोजन न करना उपवास। पव मे पहले दिन सवेरे के समय और उसके अगले दिन सध्या के समय केवल एक-एक बार भोजन करना और पववाले दिन दोनो समय भोजन न करना। इस प्रकार १६ प्रहर तक सर्व आरम्भ का तथा भोजन का त्याग (३२६)

बध–जीव के रागादि परिणामो के निमित्त से, कम-जातीय सूक्ष्म पुदगल परमाणुओ का जीव के प्रदेशा म अवस्थित हो जाना (५५६ ५५७)

बल–तीन हैं–मन वचन व काय (६४५)

बहिरात्मा–देह का आत्मा माननेवाला मिथ्यादृष्टि (६६)

बाल–अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि (५०, २७२)

बाह्य–क्षेत्र मकान आदि दस प्रकार का परिग्रह (१४४) अनशन आदि छह प्रकार का तप (४४१) देह कृशता रूप सलेखना (५७८) इत्यादि।

बोधि–रत्नत्रय (५८०–५८१)

भक्त-प्रत्याख्यान–सलेखनाविधि म शरीर कृश करने के लिए धीरे धीरे भोजन त्याग करन की प्रक्रिया विशष (५७३)

भग–स्याद्वाद-न्याय के अनुसार अनेकान्त रूप वस्तु के जटिल स्वरूप का प्रतिपादन परस्पर विरोधी प्रत्येक धम-युगल मे सात-सात विकल्प उत्पन्न करके करन की पद्धति (सूत्र ४०)

भय–सात हैं–इहलोक भय, परलोक-भय वेदना भय मत्यु भय, अरक्षा भय अगुप्ति भय और आकस्मिक भय (२३२)

भव–देह से देहान्तर की प्राप्ति के रूप में चतुगति भ्रमण (१८२)

भारण्ड पक्षी–पक्षी विशेष जिसके एक शरीर म दो जीव, दो ग्रीवा और तीन पैर होते हैं। जब एक जीव सोता है तब सावधानी के लिए दूसरा जागता रहता है (१६३)

भाव-कम–द्रव्य-कम की फलदान शक्ति अथवा उसके उदयवश होनेवाले जीव के रागादिक भाव (६२)

भाव निक्षेप–विवक्षित पर्याययुक्त वस्तु को ही उस नाम से कहना जसे कि राज्यनिष्ठ राजा को राजा कहना (७४३ ७४४)

भाव प्रतिक्रमण–दोष शुद्धि के लिए किया गया आत्मनिन्दन व ध्यान आदि (४३१–४३२)

भाव लिंग–साधु का नि सग तथा निष्कषाय रूप समताभाव (३६३)

भाव हिंसा–आत्महननस्वरूप रागादि की उत्पत्ति के रूप म होनेवाली हिंसा (१५३, ३८६–३९२)

भावि नगमनय–सकल्पमात्र के आधार पर अनिष्पन्न पदार्थ को भी उसी नाम से कहना जैसे कि पाषाण को प्रतिमा कहना (७०३)

भाषा-समिति–बोलचाल विषयक विवेक–यतनाचार (३९१–४०३)

भुवन–तीन हैं–ऊर्ध्व, मध्य व अधो (७)

भूत नगममय–सकल्पमात्र के आधार पर गत पदार्थ को वर्तमान मे अवस्थित कहना। जैसे आज दीपावली के दिन भगवान वीर निर्वाण को प्राप्त हुए (७०१)

भोग-परिभोग परिमाण–व्रत–भोगलिप्सा को नियन्त्रित करने के लिए भोग तथा परिभोग की वस्तुओ मे ग्रहण का सीमित करना (३२५)

मतिज्ञान–दे० आभिनिवोधिक ज्ञान

मद–गर्व आठ हैं–कुल, जाति, लाभ, बल, रूप ज्ञान, तप, सत्ता (८८, १८७)

मन पयव ज्ञान–दूसरे के मन की बात प्रत्यक्ष जान लेनेवाला ज्ञान (६८२, ६८६)

मनोगुप्ति–मन की प्रवृत्ति का गोपन (४१२)

ममकार–आत्मातिरिक्त देहादि अन्य पदार्थो मे मैं-मेरेपन का भाव (१८६, ३४६)

ममत्व–ममकार (७६, १४२)

मल–कम स्कध (५८)

महाव्रत–साधुओ के सवदेशव्रत। देखें–व्रत।

माध्यस्थ्य भाव–मोह क्षोभविहीन समता या विश्रान्त भाव (२७४ २७५)

माग–मोक्ष का उपाय (१६२)

मागणास्थान–जिन जिनके द्वारा जीवो का अन्वेषण (खोज) किया जाय वे सब धर्म १४ हैं–गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, सयम, दशन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, सज्ञित्व, आहारकत्व (१८२, ३६७)

मादव–अभिमानरहित मृदु परिणाम, दस धर्मो मे से द्वितीय (८८)

मिथ्यात्व या मिथ्यादशन–तत्त्वो का अश्रद्धान या विपरीत श्रद्धान और तत्परिणामस्वरूप यथाथ धम मे अरुचि। १४ गुणस्थानो म प्रथम (६८, ५४६)

मिश्र–साधक की तृतीय भूमि जिसमे उसका परिणाम दही व गुड के मिश्रित स्वाद की भाँति, सम्यक्त्व तथा मिथ्यात्व के मिश्रण जैसा होता है (५५१)

मूर्च्छा–इच्छा या ममत्वभाव मोहाघता या आसक्ति (३७६ १४२)

मूढ़ता–रूढिगत भेडचाल की स्वीकृतिरूप मिथ्या अध विश्वास, जो तीन प्रकार का है–लोकमूढता, देवमूढता, गुरु-मूढता (१८६)

मूत–इन्द्रिय-ग्राह्य होने से मात्र पुद्गल द्रव्य (५६५, ६२६)

मोक्ष–सकल कर्मो का नाश हो जाने पर जीव का केवलज्ञानानन्दमय स्वरूप को प्राप्त होकर, देह के छूट जाने पर, ऊर्ध्वगमन स्वभाव के द्वारा ऊपर लोक के अग्रभाग म सदा के लिए स्थित हो जाना (६१४–६२३), मुक्ति या निर्वाण।

मोह–श्रेयाश्रेय विवेक से विहीन भाव अर्थात् मिथ्यादशन। यही राग-द्वेष का तथा कमवध का मूल है (७१)

मोहनीय–मद्यपान की भाँति श्रेयाश्रेय के विवेक को नष्ट करनेवाला प्रबल कम (६६, ६१३)

योग–मन वचन काय की चेष्टा का कारण-भूत अन्तरग प्रयत्न या वीर्यपरिणाम (६०३)

योनि–जीवो की उत्पत्ति के योग्य ८४ लाख स्थान (३६७)

रत्नत्रय–मोक्षमार्गरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (सूत्र १७)

रस-परित्याग–स्वाद विजय के लिए घी दूध नमक आदि रसों के त्यागरूप में एक बाह्यतप (४५०)

राग–इष्ट विषयों के प्रति प्रीति का भाव (सूत्र ८)

रूक्ष–परमाणु का विकर्षण गुण जो आकर्षण के साथ मिलने पर बंध का मूल हेतु होता है (६५२)

रूपस्थध्यान–अनेक विभूति सम्पन्न अर्हन्त का ध्यान (४६७)

रूपातीतध्यान–केवलज्ञान शरीरी सिद्ध भगवान् का अथवा तत्सदृश निज शुद्धात्मा का ध्यान (४९७)

लिंग–बुद्धि या अनुमान ज्ञान (१८५) साधु का बाह्याभ्यन्तररूप (सूत्र २४-आ)

लेश्या–मन वचन काय की कषाययुक्त वृत्तियाँ जिनके स्वरूप का कथन कृष्ण नील आदि छह रंगों की उपमा द्वारा *किया गया है* (सूत्र ३१)

लोक–असीम आकाश का मध्यवर्ती वह पुरुषाकार क्षेत्र जिसमें छह द्रव्य अवस्थित हैं (६३६, ६५१)। यह तीन भागों में विभक्त है–अधोलोक (नरक), मध्यलोक (मनुष्य व तिर्यञ्च) और ऊर्ध्वलोक (स्वर्ग) (देखें पृष्ठ १२०)

लोकाग्र–लोकाकाश का शीर्ष भाग (५६५ ६२१)

लोकान्त–लोक का अन्तिम भाग अर्थात् लोकशिखर (६१४)

वचनगुप्ति–वचन की प्रवृत्ति का गोपन (४१३)

वर्तमान नैगमनय–संकल्पमात्र के आधा पर कोई काम प्रारम्भ करते समय उसे हो गया' कहना। जैसे भात पका प्रारम्भ करते ही कह देना कि 'भात प गया (७०२)

विरताविरत–साधक की पंचम भूमि जिस त्रस हिंसा आदि स्थूल पापों के प्रति विरक्ति हो जाती है, परन्तु स्थाव हिंसा आदि सूक्ष्म पापों से विरति न होती (५५३)

विरागचारित्र या वीतरागचारित्र–बाह्या भ्यन्तर सकल परिग्रह के पूर्ण त्यागरू निरपवाद उत्सर्ग चारित्र (४२१)

विविक्त शय्यासन–एकान्तवास (४५१)

विशेष–दूसरे की अपेक्षा विसदृश परिणा जैसे बाल्यावस्था और वृद्धावस्था परस्प विसदृश होने से मनुष्य के विशे धर्म हैं (६६८)

वीरासन–दोनों पैरों को दोनों जांघों ऊपर रखना (४५२)

वेदनीय–दुःख-सुख की कारणभूत बाह् सामग्री के संयोग-वियोग में हेतुरू कर्म (६६), इसके दो भेद हैं।

वैतरणी–नरक की अति दुर्गन्धित रक्त मवाद मय नदी (१२२)

वैयावृत्य–रोगी, ग्लान व श्रमित श्रमण आदि की प्रेमपूर्ण सेवा (४७३ ४७४

वृत्ति-परिसंख्यान–अटपटे अभिग्रह लेक भिक्षाचर्या के लिए निकलना (४४६

व्यय–द्रव्य में नित्य होता रहनेवाला पूर्व पूर्व पर्यायों का नाश (६६६ ६६७)

व्यवहार-नय–अनन्त धर्मात्मक वस्तु में एक रसात्मक भाव का गुण-गुणी आदि रू

विश्लेषण द्वारा भेदोपचार कथन अथवा अन्य वस्तुओं के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धरूप अभेदोपचार कथन (३१)। जैसे अखण्ड मोक्षमार्ग को सम्यग्दर्शन आदि तीन रूप में कहना (२१८) अथवा दूसरे प्राणी के घात को हिंसा कहना (३८८–३९०)

व्यसन–टेव या बुरी आदतें। जूआ खेलना, पर-स्त्री गमन करना आदि सात व्यसन हैं। अन्य सभी कुटेवों का इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है (२०३)

व्रत–हिंसा आदि पापों से विरति। एकदेश तथा सर्वदेश के भेद से व्रत दो प्रकार का है। एकदेश-व्रत अणुव्रत कहलाता है और सर्वदेश-व्रत महाव्रत (३००) (सूत्र २५)

शब्द-नय–पदार्थों के वाचक शब्दों में ही जिनका व्यापार होता है वे नय शब्दनय कहलाती हैं, जो तीन प्रकार की हैं–शब्द, समभिरूढ और एवंभूत। ये उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं (६९९)। इनमें से प्रथम शब्द नय लोकशास्त्र में स्वीकृत एकार्थवाची शब्दों में से समान लिंग कारक आदि-वाले शब्दों को ही एकार्थवाची मानता है, असमान लिंग आदिवालों को नहीं (७०८)

शय्यासन–साधु के बैठने, सोने आदि के उपकरण फलक पाटा आदि (४७०)

शल्य–काँटे की भाँति पीड़ाकारी माया, मिथ्या व निदान नामक तीन भावरूप पारमार्थिक शल्य (१७७–१७९)

शिक्षाव्रत–श्रमण धर्म की शिक्षा या अभ्यास में हेतुरूप सामायिक आदि चार व्रत (३०४)

शील–साधु के अनेक गुण (५५५)

शीलव्रत–श्रावक के पाँच अणुव्रतों के रक्षक तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत (३००)

शुक्ललेश्या–तीन शुभ लेश्याओं में से अन्तिम उत्कृष्ट या शुभतम (५३४, ५४४)

शुद्धभाव–कर्मों के उदय उपशम व क्षय आदि से निरपेक्ष जीव का त्रैकालिक स्वभाव या तत्त्व (१८८ ५९०)

शुद्धोपयोग–ज्ञान व चारित्रयुक्त साधु की शुभाशुभ भावों से निरपेक्ष केवल आत्मा के शुद्धस्वभाव में अवस्थिति अथवा मोह क्षोभ विहीन साम्यभाव (२७४–२७९)

शौच–लोभ व तृष्णारहित सन्तोषभाव दस धर्मों में से एक (१००)

श्रमण–मोक्षमार्ग में श्रम करने के कारण समताधारी (३४१) निर्ग्रन्थ तथा वीतराग (४२१) संयतजन (३३६) (सूत्र २४)

श्रमण धर्म–इसमें ध्यानाध्ययन की प्रमुखता होती है। (२९७) (सूत्र २८)

श्रावक–गुरुमुख से धर्मोपदेश सुननेवाला धर्मात्मा अविरत या अणुव्रती गृहस्थ (३०१)

श्रावक-धर्म–इसमें दया, दान भक्ति विनय आदि की प्रमुखता होती है (२९७) (विशेष द० सूत्र २३)

श्रुत–शास्त्र या आगम (१३८)

श्रुतज्ञान–धूम्र देखकर अग्नि को जानने की भाँति अर्थ से अर्थान्तर का ग्रहण करने वाला मन व इन्द्रियों की सहायता से होनेवाला परोक्षज्ञान। शास्त्र से

वाच्यार्थ का ग्रहण करनेवाला शब्द लिंगज ज्ञान। (६७८)

षड्–१ आभ्यन्तर तप, २ आवश्यक, ३ जीवकाय, ४ द्रव्य, ५ बाह्यतप, ६ लेश्या, ७ स्कन्ध ये सब छह-छह हैं।

संग–देहसहित समस्त बाह्याभ्यन्तर परिग्रह (३६३, १४, १४४)

संग्रहनय–लोकस्थित समस्त जड़ चेतन द्रव्यों में अस्तित्व सामान्य की अपेक्षा एकत्व की, अथवा प्रत्येक जाति के अनेक द्रव्यों में उस जाति की अपेक्षा एकत्व की दृष्टि (७०४)

संघ–रत्नत्रय आदि अनेक गुणों से युक्त श्रमणों का समुदाय (सूत्र ३)

संज्ञा–इन्द्रिय ज्ञान (६७७) अथवा आहार भय मैथुन निद्रा परिग्रह आदि की वासनाएँ।

संयम–व्रत समिति आदि का पालन, मन वचन, काय का नियन्त्रण, इन्द्रिय जय, और कषाय निग्रह आदि सब भाव (१०१) (सूत्र १०)

संरम्भ–कार्य करने की प्रयत्नशीलता (४१२–४१४)

संवर–सम्यक्त्वादि द्वारा नवीन कर्मों का आगमन रोकना (६०४–६०८)

संवेग–धर्म के प्रति अनुराग (७७)

संशय मिथ्यात्व–तत्त्वों के स्वरूप में 'ऐसा है या ऐसा है' के सन्देह में रहना (५४६)

संसार–जन्म मरणरूप संसरण (५२–५८)

संसार-अनुप्रेक्षा–वैराग्य-वृद्धि के लिए संसार में जन्म मरणरूप भय देखते हुए इससे मुक्त होने की भावना का पुनः पुनः चिन्तवन (५२४)

संस्तर–सल्लेखनाधारी साधु के लिए झाड़ बुहारकर तैयार की गयी निर्जन्तु भूमि अथवा घास का बिछौना (५७६)

संस्थान–शरीर तथा अन्य पुद्गल स्कन्धों के विविध आकार (१८३, ६४३)

संहनन–देहस्थित अस्थियों के दृढ़ या कम जोड़ बन्धन तथा जोड़ आदि। यह छह प्रकार का है (१८३)

सप्त–१ तत्त्व, २ नय, ३ भंग, ४ भय, ५ व्यसन, ६ समुद्घात ये सब सात-सात हैं।

समता–सुख-दुःख शत्रु मित्र आदि द्वन्द्वों में समान रहनेवाला वीतरागियों का मोह क्षोभविहीन परिणाम (२७६, ३४६, २७४)

समभिरूढ़-नय–तीन शब्द नयों में से द्वितीय, जो प्रथम नय के द्वारा स्वीकृत समान लिंग आदिवाले एकार्थवाची शब्दों में भी अर्थभेद मानता है (७११)

समय–आत्मा (२६), धर्म, पथ या मत (२३)

समयसार–सब विकल्पों से अतीत आत्मा का शुद्ध स्वभाव (२१४) (दे० शुद्ध भाव)

समाधि–आत्मा का निर्विकल्प ध्यान (४२५) अथवा शास्त्राध्ययन में तल्लीनता (१०४)

समारम्भ–कार्य प्रारम्भ करने के लिए साधन जुटाना (४१२–४१४)

समिति–यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति (३८६–३८८) (विशेष दे० सूत्र २६)

समुद्घात–वेदना आदि के निमित्त से देह में संकुचित आत्मा के कुछ प्रदेशों का देह

स बाहर निकलकर फल जाना। यह सात प्रकार का होता है (६८६)

सम्यक्त्व—दे० सम्यग्दर्शन

सम्यक्चारित्र—व्रत-समिति आदि का पालन व्यवहार चारित्र है (२६३) और निजस्वरूप म स्थितिस्वरूप (२६८) मोह-क्षोभविहीन समता या प्रशान्त भाव निश्चय चारित्र है (२७४)

सम्यक्मिथ्यात्व—दे० मिश्र

सम्यग्ज्ञान—सम्यग्दर्शन-युक्त शास्त्रज्ञान व्यवहार-सम्यग्ज्ञान (२०८ २४५) और रागादि की निवृत्ति म प्रेरक शुद्धात्मा का ज्ञान निश्चय सम्यग्ज्ञान (२५०–२५५)

सम्यग्दर्शन—सप्त-तत्त्व का श्रद्धान व्यवहार-सम्यग्दर्शन और आत्मरुचि निश्चय सम्यग्दर्शन (२२० २२१)

सयोगी-केवली—साधक की तेरहवी भूमि जहाँ पूर्णकाम हो जाने पर भी देह शेष रहने से प्रवृत्ति बनी रहती है। अर्हन्त या जीवन्मुक्त अवस्था (५६२ ५६३)

सराग चारित्र—व्रत समिति गुप्ति आदि का धारण व पालन होने पर भी, राग भाव क कारण जिस चारित्र म आहार तथा योग्य उपाधि के ग्रहणस्वरूप कुछ अपवाद स्वीकार कर लिया जाता है। निश्चय चारित्र का साधन। (२८०)

सलेखना—सयम की सामर्थ्य न रहने पर देह को युक्त विधि म समतापूर्वक त्याग करना (सूत्र ३३)

सामाचारी—धर्मोपदेश (३०१)। सामाचारी दस हैं।

सामान्य—अनेक विसदृश पदार्थों म एक सदृश परिणाम, जस कि बाल्यावस्था तथा वृद्धावस्था म मनुष्यत्व (६९७ ६९८)

सामायिक—पापारम्भवाले समस्त कार्यों से निवृत्ति व्यवहार सामायिक ह। (४२७) और तृण कचन आदि म (४२५) अथवा सर्वभूतो म समभाव (४२८) निश्चय सामायिक है।

सावद्य—प्राणी-पीडाकारी प्रवृत्ति, भाषा तथा काय (३२६ ३६१, ४२७)

सासादन—साधक की द्वितीय भूमि। इसकी प्राप्ति एक क्षण के लिए उस समय होती है जब साधक कर्मोदय-वश सम्यक्त्व स च्युत होकर मिथ्यात्व-अभिमुख होता ह परन्तु साक्षात् मिथ्यात्वावस्था म प्रविष्ट नहीं हो पाता (५५०)

सिक्थ—भात का कण या चावल (४४८)

सिद्ध—१४ भूमियो का अतिक्रम कर लेने पर आठों कर्मों का नाश हो जाने से अष्ट गुणो की प्राप्ति के फलस्वरूप देह छोडकर लोक के शिखर पर जानेवाला (५६६)

सिद्धि—मोक्ष प्राप्ति (६२१)

सुनय—अपेक्षावाद के द्वारा विरोधी धर्मो का समन्वय करनेवाला। निष्पक्ष दृष्टि (७२१)

सूक्ष्म-कषाय—दे० सूक्ष्म साम्पराय

सूक्ष्म-सराग—दे० सूक्ष्म साम्पराय

सूक्ष्म साम्पराय—साधक की दसवीं भूमि जहाँ सब कषाएँ उपशान्त या क्षीण हो जाने पर भी लोभ या राग का कोई सूक्ष्म अश जीवित रहता है। (५५६)

स्कंध—दो या अधिक परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न, द्वयणुक आदि छह प्रकार के सूक्ष्म-स्थूल भौतिक तत्त्व (६६० ६६१, ६४८–६५०)

स्त्री—तीन प्रकार की—मनुष्यणी तिर्यञ्चिनी और देवी (३७४)

स्थापना निक्षेप—किसी पुरुष या पदार्थ के चित्र या प्रतिमा को अथवा किसी पदार्थ में कल्पित आकार को 'यह वही है' ऐसा मानकर विनय आदि रूप व्यवहार करना (७४०)

स्थावर—पृथिवी, अप् तेज वायु और वनस्पति इन पाँच कायोंवाले एकेन्द्रिय जीव (६५०)

स्थितिकरण—किसी कारणवश धर्ममार्ग में प्रवृत्त हो जाने पर अपने को या साधर्मी बन्धु को विवेकपूर्वक धर्ममार्ग में पुनः आरूढ़ करना (२४० २४१)

स्निग्ध—परमाणु का आकर्षण गुण जो विकर्षण का योग पाकर बंध का हेतु हो जाता है (६५२)

स्यात्—'ऐसा ही है' ऐसे एकान्त हठ का निषेध करके 'कथञ्चित् ऐसा भी है' इस प्रकार का समन्वय स्थापित करने वाला एक निपात (७१५)

स्याद्वाद—'स्यात्' पदयुक्त वाक्य द्वारा वस्तु के जटिल स्वरूप का विवेचक समन्वयकारी न्याय (सूत्र ४०)

स्व-द्रव्य—शुद्ध आत्मा (५८७)

स्व-समय—शुद्ध आत्मा में ही अपनत्व का द्रष्टा सम्यग्दृष्टि स्व-समय है (२७१) स्व मत (७३ ७३५) परस्पर विरोधी मतों का युक्तिपूर्ण समन्वय साधक या निष्पक्ष भाव (७२६)

स्वाध्याय—शास्त्राध्ययनरूप तप जो पाँच प्रकार का है (४७४)

हिंसा—जीव-वध या प्राणातिपात व्यवहार हिंसा है (३८६) और रागादि की उत्पत्ति (१५३) अथवा अयतनाचार रूप प्रमाद (१५७) निश्चय हिंसा है।

हिंसादान—प्राणि-पीडाकारी या वधकारी उपकरण (फरसा, कुदाली चूहेदानी आदि) का लेन देन (३२१)

●